संस्कृति

अंक-3 मार्च, 2002

विक्टोरिया मेमोरियल हॉल, कोलकाता में संसदीय राजभाषा समिति की प्रथम उप समिति के सदस्य पक्षियों के चित्र का अवलोकन करते हुए।

Created by Bhartesh Mishra

अंक-3 मार्च, 2002

संरक्षक
नी. गोपालास्वामी
सचिव
मुख्य परामर्शदाता
विवेक रे
संयुक्त सचिव
परामर्शदात्री मण्डल
वी. बी. प्यारेलाल
विजय लखनपाल
संजीव मित्तल
नवनीत सोनी
उमंग नरूला
विवेक वाडेकर
प्रधान सम्पादक
गोरख नाथ
निदेशक (राजभाषा)
संपादक
यशपाल सिंह रावत
उप निदेशक (रा. भा.)
संपादकीय सहयोग
मीमांसक
रेणु नवानी

प्रथम आवरण
मोहिनी
पश्चिम चालुक्य, 11वीं शती ई.
कर्नाटक
राष्ट्रीय संग्रहालय
अंतिम आवरण
यक्ष
सातवाहन, 2वीं शती ई. पू.
पीतल खोड़ा, महाराष्ट्र,
राष्ट्रीय संग्रहालय
भीतरी आवरण
हाल ही प्राप्त कुषाण राजा
वासुदेव का सोने का सिक्का,
प्रथम शती ई. सन्.

मुद्रक
भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड,
मायापुरी, नई दिल्ली।

अर्द्धवार्षिक

संस्कृति

संस्कृति विभाग
पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

1226 D of Culture/2002—1A

जगमोहन
JAGMOHAN

पर्यटन और संस्कृति मंत्री
भारत सरकार
परिवहन भवन, नई दिल्ली-110 001
Ministry of Tourism & Culture
Government of India
Transport Bhavan, New Delhi-110001

संदेश

यह एक अत्यन्त ही प्रसन्नता का विषय है कि संस्कृति विभाग **संस्कृति पत्रिका** के तीसरे अर्द्धवार्षिक अंक का प्रकाशन करने जा रहा है। किसी भी देश की संस्कृति की आधारशिला उसके समाज, सभ्यता और भाषा पर निर्भर करती है, उसमें भी भारतीय संस्कृति **वसुधैव कुटुम्बकम** की आस्था पर आधारित है, और वह निरन्तर बरगद के पेड़ की शाखा-प्रशाखा की तरह फैल रही है। यह जानकर और भी खुशी हो रही है कि इस **संस्कृति पत्रिका** में, भारतीय संस्कृति की विभिन्न विधाओं व अनेक विद्वानों के लेखों को शामिल किया गया है, जिससे भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों एवं धरोहर के विषय में अधिकाधिक जानकारी मिल सकेगी।

मैं इस पत्रिका की सफलता की कामना करता हूँ और संस्कृति सचिव एवं पत्रिका के संपादकीय मंडल के सभी सदस्यों को बधाई देता हूँ।

(जगमोहन)

Created by Bhartesh Mishra

सचिव
भारत सरकार
पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय
संस्कृति विभाग
नई दिल्ली-110 001
Secretary
Government of India
Ministry of Tourism & Culture
Department of Culture
New Delhi-110001

नी. गोपालास्वामी
N. Gopalaswami
Tel. : 3386995, 3381040
Fax : 3384093

संदेश

यह बड़े हर्ष का विषय है कि विभाग का राजभाषा प्रभाग विभागीय क्रियाकलापों के अलावा सांस्कृतिक विषयों पर विद्वानों एवं चिंतकों को विचार-विमर्श के लिए 'संस्कृति' पत्रिका के रूप में एक सक्रिय मंच प्रदान कर रहा है। मैं आशा करता हूं कि पत्रिका के तीसरे अंक में प्रकाशित रचनाओं के माध्यम से आप सभी को सूचनात्मक जानकारी मिलेगी।

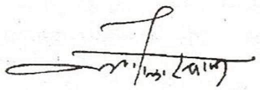

(नी. गोपालास्वामी)

संपादकीय

भारतीय लोकतंत्र के विस्तार के साथ एक तरफ जहां इसकी जड़ें मजबूत हुई हैं तो दूसरी ओर हमारी संस्कृति को उपभोक्तावाद से लगातार चुनौतियां मिल रही हैं। यह केवल संस्कृति के क्षरण का सवाल नहीं है बल्कि आंचलिक सांस्कृतिक वैविध्य को बचाने का भी गंभीर प्रश्न है। अपसंस्कृति के इस दौर में इसका सृजनात्मक प्रतिरोध बेहद जरूरी है तभी हम भारतीय परम्पराओं और धरोहरों को बचाए रख सकते हैं। भारत की बहुरंगी छटा को समेटकर उसका प्रस्तुतीकरण करना इसी प्रयास की एक कड़ी है।

सांसारिक जीवन में किसी भी गतिविधि की उपेक्षा साहित्य और संस्कृति को उपेक्षित करना है। पर्यटन को लें, इससे जुड़े पक्ष संस्कृति और साहित्य का ही परिचय कराते हैं। इस अंक में डॉ. अय्यर का लेख उल्लेखनीय है। डॉ. नारायण दत्त पालीवाल के लेख में भारतीय संस्कार ही हमारे जीवन में शाश्वत मूल्यों, आदर्शों, मानव की सद्वृत्तियों और आत्मा के ऐसे स्वरूप से साक्षात्कार कराते हैं। डॉ. हर्षनंदिनी भाटिया ने भी ब्रज संस्कृति को विस्तार से वर्णित करते हुए संस्कृति को मानवीय संस्कारों से जोड़ा है। इस दृष्टि से उनका लेख **''भारतीय संस्कृति का आधार : ब्रज संस्कृति''** पठनीय है। अपने पिछले लेख की श्रृंखला में श्री हिमांशु जोशी ने **''थाइलैण्ड में भारतीय संस्कृति''** की झांकी प्रस्तुत की है। श्री राजीव लोचन सोनी के लेख में **''सतना जिले के भरहुत में धरोहर के रूप में शुंगकालीन धर्म व कला''** हमारी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में स्मरण कराता है। वैदिक काल की विलुप्त नदी सरस्वती के बारे में डॉ. परमानंद पांचाल ने रोचक जानकारी दी है। भारतीय संस्कृति में नदियों को कितनी महिमा और गरिमा प्राप्त है इसे उनके लेख से समझा जा सकता है। लोक कलाएं और शिल्प भारतीय संस्कृति की किस तरह संवाहक हैं इसे डॉ. एन. चन्द्रशेखर नायर का लेख—**''केरल के दारूशिल्प''** से जाना जा सकता है। लोक साहित्य भी संस्कृति से रू-ब-रू कराते हैं। डॉ. गरिमा श्रीवास्तव का लेख **''उड़िया लोक साहित्य''** संस्कृति की भावभूमि में ही ले जाते हैं। डॉ. उषा कटारा का लेख हमें भारतीय संस्कृति के **वसुधैव कुटुम्बकम** भाव से जोड़ता है वहीं दूसरी ओर डॉ. रामगोपाल शर्मा ''दिनेश'' के लेख में **विभिन्न धर्मों में ''राम''** पाए गए हैं अर्थात् राम भारतीय संस्कृति के पर्याय है। श्री मीमांसक का लेख हमें रेतीले आंचल में भारतीय संस्कृति की ओर ले जाता है।

Created by Bhartesh Mishra

अंत में मैं माननीय पर्यटन और संस्कृति मंत्री और सचिव (संस्कृति) महोदय का आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस पत्रिका के तीसरे अंक के सफल प्रकाशन के लिए अपनी शुभकामनाएं दी हैं। मैं संयुक्त सचिव श्री विवेक रे का भी आभार प्रकट करता हूँ जिनसे समय-समय पर मिले मार्गदर्शन से पत्रिका समृद्ध हुई है। मैं संपादकीय मण्डल के सर्वश्री प्यारेलाल, निदेशक, श्री विजय लखनपाल, निदेशक, श्री संजीव मित्तल, निदेशक, श्री नवनीत सोनी, उप वित्तीय सलाहकार, श्री उमंग नरूला, उप सचिव, श्री विवेक वाडेकर, उप सचिव, श्री यशपाल सिंह रावत, उप निदेशक (राजभाषा), श्री मीमांसक, सहायक निदेशक (राजभाषा), राष्ट्रीय अभिलेखागार, सुश्री रेणु नवानी, हिन्दी अधिकारी, राष्ट्रीय संग्रहालय को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने रचनात्मक सुझाव और मार्गदर्शन प्रदान कर पत्रिका को संपूर्ण और सुरुचिपूर्ण बनाने में योगदान दिया। मैं अपने राजभाषा प्रभाग तथा इंदिरा गांधी राष्ट्रीय आधुनिक कला केन्द्र के अधिकारियों तथा कर्मचारियों का भी सहयोग देने के लिए आभार व्यक्त करता हूँ जिनके परिश्रम से हम आपके समक्ष इस अंक को प्रस्तुत कर सके हैं। इसे और बेहतर बनाने के लिए अगर आप कोई और उपयोगी सुझाव देना चाहें तो उसका हम सभी स्वागत करेंगे।

(गोरख नाथ)
प्रधान संपादक सह निदेशक (राजभाषा)

विषय-क्रम

1.	थाईलैण्ड-भारतीय संस्कृति जहाँ आज भी जीवित है (अंतिम भाग)	श्री हिमांशु जोशी	1—11
2.	पर्यटन और भारतीय साहित्य	डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर	12—17
3.	सतना जिले का गौरव भरहुत	श्री राजीव लोचन सोनी	18—22
4.	रेतीले आंचल में कला का रोमांच	श्री मीमांसक	23—28
5.	वैदिक काल की सरस्वती नदी, जो लुप्त हो गई	डॉ. परमानन्द पांचाल	29—35
6.	उड़िया लोक साहित्य	डॉ. गरिमा श्रीवास्तव	36—42
7.	केरल के दारूशिल्प : भारतीय संस्कृति के संवाहक	डॉ. एन. चन्द्रशेखर नायर	43—51
8.	राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता और राम-भक्ति का विकास	डॉ. रामगोपाल शर्मा ''दिनेश''	52—56
9.	मौर्य-लोककला : एक मूल्यांकन	श्रीकान्त भगत	57—61
10.	मानव संस्कृति और मैथिलीशरण गुप्त का काव्य	डॉ. उषा कटारा	62—65
11.	भारतीय संस्कृति की इन्द्रधनुषी उड़ान	डॉ. नारायणदत्त पालीवाल	66—69
12.	भारतीय संस्कृति का आधार : ब्रज-संस्कृति	डॉ. श्रीमती हर्षनन्दिनी भाटिया	70—73
13.	भारतीय कसीदा : एक समृद्ध संसा	अनामिका पाठक	74—81

Created by Bhartesh Mishra

थाईलैण्ड

भारतीय संस्कृति जहाँ भी जीवित है (अंतिम भाग)

(गत अंक में थाइलैंड में भारतीय संस्कृति की एक झलक प्रस्तुत की गई थी इस बार थाईलैंड की "अयोध्या" तथा "लवपुरी का" का आंखों देखा हाल)

—हिमांशु जोशी

इस प्रश्न पर पहले ही बहुत बहस हो चुकी थी कि अयोध्या किस मार्ग से पहुँचा जाए। मोटर-मार्ग के साथ-साथ रेल-मार्ग से भी वहाँ जाया जा सकता है। चूंकि अयोध्या भी बैंकाक की तरह चाओफाया नदी के तट पर बसी है। अतः जल-मार्ग का भी अपना अनुभव होगा।

समय की सीमा को ध्यान में रखते हुए अन्त में सड़क-मार्ग ही सुविधाजनक लगता है। अत: तय होता है कि प्रात: नाश्ते के पश्चात् हम बस से रवाना होंगे ताकि लवपुरी आदि स्थानों को देखने में पर्याप्त सुविधा रहे।

यों तो हमें बतलाया गया था कि थाइलैंड में बहुत से दर्शनीय स्थल हैं। बैंकाक से दक्षिण में 23 किलोमीटर की दूरी पर स्थित "समुद्र प्रकरण" नामक नगर है। प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से अद्वितीय। इसी के निकट मेनाम नदी में एक छोटा-सा टापू है, जिसमें एक भव्य बौद्ध-मन्दिर बना है। जहाँ हर वर्ष नवम्बर में एक विशाल मेला आयोजित होता है।

मैं हिसाब लगाता हूँ कि यदि एक महीना पहले हम बैंकाक आते तो निश्चित ही इस मेले की अनुपम छटा का भी अवश्य अवलोकन करते। बैंकाक से दूरी ही कितनी है।

हमें बतलाया गया था कि थाईलैण्ड में व्यवस्थित रूप से जो पहला नगर बसा था, उसका नाम ही "नगर प्रथम" रखा गया था। यह बैंकाक से 56 किलोमीटर पश्चिम है। समय मिले तो हमें अवश्य यहां जाने का प्रयास करना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्व है।

एक उत्साही थाई मित्र इसमें कुछ और जोड़ते हुए कहते हैं—यदि आप "नगर प्रथम" जाएँ तो उससे मात्र सौ किलोमीटर की दूरी पर, उसी मुख्य मार्ग पर "हुआ हीन" सागर तट है, उस पर नौका-विहार का अनुपम आनन्द अवश्य लीजिएगा।

नियत समय पर सब अपना-अपना असबाब लिए उद्यान के किनारे परिसर में एकत्र हो जाते हैं।

बस रवाना होती है, उत्तर दिशा की ओर। सड़के स्वच्छ हैं, सुव्यवस्थित। चारों ओर हरियाली। आबादी भारत की अपेक्षा बहुत कम है। अत: न तो चारों ओर कहीं भीड़-भाड़ है, और न प्रदूषण ही। हाँ, पश्चिम के असंतुलित प्रभाव के कारण अनेक विकार अवश्य पैदा हो रहें हैं, परन्तु लोग मूलत: अभी तक कहीं वैसे ही सरल, सहज हैं, और एक सीमा तक उदार एवं सहिष्णु भी।

बैंकाक में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय रामायण समारोह को संबोधित करती सुविख्यात भारत विद्याविद् प्रो. सुरंग पुलथोपियो

पूर्व की दिशा में चंतपुरी पर्वत-शृंखलाएँ कम्बोडिया की ओर निकल गई हैं।

दिन के साथ-साथ गर्मी बढ़ रही है। ठीक ऐसी ही गर्मी का अहसास दिल्ली में मार्च के अन्त से आरम्भ होने लगता है। कुछ ही घण्टे पश्चात् सामने खड़ी दिखती है यह ऐतिहासिक नगरी।

थाईलैण्ड की यह अयोध्या यानी "अयुध्या" अयोध्या जैसी नहीं, यह मात्र खण्डहरों की नगरी है। इन सैंकड़ों वर्षों में इस प्राचीन नगर ने समय के हाथों कितना कुछ झेला, इसका ऑकलन सहज ही किया जा सकता है। हर दिशा में जहाँ तक दृष्टि जाती है, खण्डहर ही खण्डहर हैं। मंदिरों के भग्नावशेष पर कहीं-कहीं मजबूत ईंटों के बिखरते ढाँचे अभी तक भी आसमान की ओर माथा उठाए खड़े न जाने क्या खोज रहे हैं। ये मात्र थाई ही नहीं, भारतीय संस्कृति के भी धुँधलाते/मिटते अवशेष हैं। जिस गौरवमयी संस्कृति के प्रति, सदियों तक विदेशी शासकों ने हमारे हृदय में उदासीनता का भाव जगाए रखा, वह हजारों मील दूर पहुँचकर, आज भी अपने गरिमामय अस्तित्व का अहसास

Created by Bhartesh Mishra

जगा रही है। यह धूल-धूसरित ध्वजा विजय की है या पराजय की—इसका निर्णय तो काल ही करेगा, फिर भी गौरवमय अतीत की यह थाती जो कुछ अपने कण-कण से प्रतिध्वनित कर रही है, उस मूक-क्रंदन की भाषा को कौन समझेगा? काल की शिला पर कौन मानव रक्त से लिखी इस इबारत को पढ़ेगा?

इस अयोध्या में यानी यहाँ की अयोध्या में भारत की अयोध्या-जैसा कहीं कुछ नहीं हैं। सर्वत्र बौद्ध-अवशेष हैं। फनन छड्. नामक एक प्राचीन मन्दिर है, जिसमें तथागत की उँची प्रतिमा है। मंदिर के प्रांगण में एक विस्तृत मंच है, जिसमें प्रतिदिन थाई-लोक नृत्यों का प्रदर्शन होता है।

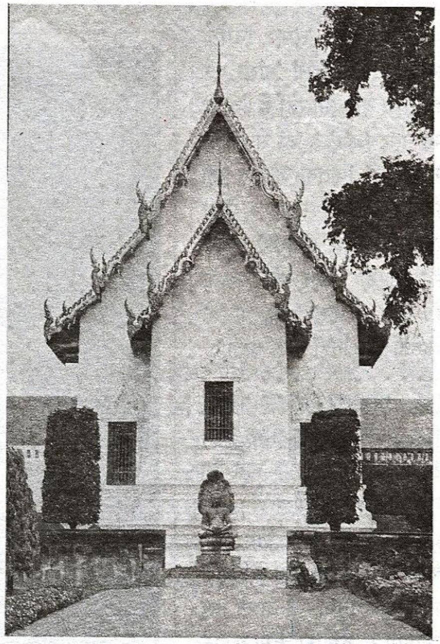

थाइलैंड का बौद्ध मंदिर

राम के नाम पर यहाँ मात्र एक "राम उद्यान" है, जिसमें एक निर्मल सरोवर है। हाँ, संग्रहालय में अवश्य अनेक दुर्लभ प्राचीन मूर्तियाँ हैं। धनुर्धारी श्री राम की एक कलात्मक प्रतिमा भी।

हस्तकला की यहाँ अनेक अनुपम वस्तुएँ हैं पर्यटकों के लिए। एक विशाल कक्ष की प्राचीर में अनेक प्राचीन भिति-चित्र हैं, जिन में भगवान विष्णु तथा लक्ष्मी को क्षीर सागर में शेष-शय्या पर दिखलाया गया है।

बाहर विस्तृत प्रांगण में प्राचीन अवशेषों के बीच लम्बी कतार में ध्यान की मुद्रा में बैठे बुद्ध की एक सी मूर्तियों की एक लम्बी कतार हैं, जिनके कधों पर रेशमी पीत-चींवर रखा गया है। मूर्तियाँ इनसे अधिक जीवन्त हो उठी हैं।

समाधि में लीन इन तथागतों को न छेड़ कर, हम चुपचाप आगे निकल जाते हैं। सूरज माथे पर चमक रहा है, पर एक खण्डहर के पश्चात् दूसरे खण्डहर तक अबाध गति से हम मूक दृष्टा की तरह बढ़ते चले जा रहे हैं।

हमें इस समय निर्मल सरयू तट पर बसी भारत की अयोध्या याद आ रही है। कभी यह नगर थाईलैंड की राजधानी के रूप में कितना जीवन्त रहा होगा। कितना सुन्दर। ऐसी प्राणवान प्रस्तर प्रतिमाएँ विश्व में कम ही देखने को मिलती हैं। कुछ न कहते हुए भी जो कितना कुछ नहीं कह जातीं।

थाइलैंड में प्राचीन बौद्ध प्रतिमा

मंदिर की पत्थर की दीवारों पर उत्कीर्ण अप्सराओं के चित्र मन को अनायास मोह लेते हैं। प्राचीरों पर उत्कीर्ण कहीं-कहीं हनुमान जी के आठ हाथ और चार सिर हैं। भारत भूमि में बिराजे पवन-पुत्र हनुमान ने अपने इस पराक्रमी स्वरूप की कभी स्वपन में भी कल्पना नहीं की होगी।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अयोध्या-काल सन् 1350 से 1767 तक माना जाता है। इस अवधि में अयोध्या में 33 शासकों का शासन रहा, पर इनमें एक भी ऐसा राजा नहीं है, जिसने बर्मा से युद्ध न किया हो। इनमें सबसे उल्लेखनीय हैं अयोध्या के अठाहरवें राजा नरेश्वर महाराज का बर्मा के राजकुमार के साथ हाथियों का युद्ध। यह लड़ाई सैनिकों की नहीं, मात्र दो राजाओं के बीच हुई थी। इस घमासान समर में बर्मा का राजकुमार वीरगति को प्राप्त हुआ था।

Created by Bhartesh Mishra

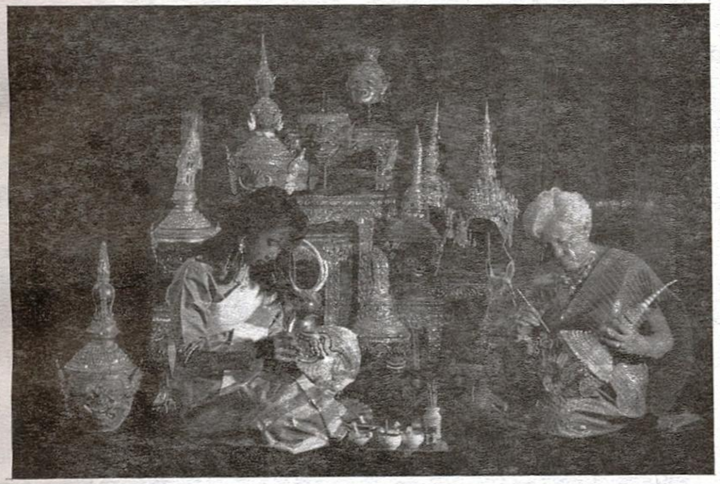

थाइलैंड कलाकार काम करते हुए।

परन्तु अप्रैल 1767 में बर्मी सेनाओं ने अयोध्या पर फिर आक्रमण कर इसे पूरे तरह ध्वस्त कर दिया था। आज सामने जो वीरान खण्डर दीख रहें हैं, इसका सारा श्रेय उनके ही उन बर्बर कृत्यों को जाता है।

एक बार उजड़ी अयोध्या फिर दुबारा नहीं बस पाई। यद्यपि थाइलैंड में बर्मा का अधिकार हो गया था, परन्तु चन्द्रपुरी के समीप एक छोटे से रजवाड़े ने इस संघर्ष को अपने स्तर पर जारी रखा। अयोध्या से हटा कर वह राजधानी चाओं फाया नदी के ही तट पर बसी धनपुरी ले गया। उसने अपनी सशक्त समुद्री-सेना का गठन कर पाँच सौ जंगी जहाजों के साथ बर्मा पर आक्रमण कर दिया और सारा थाईलैण्ड बर्मा सैनिकों से सदा-सदा के लिए मुक्त करा दिया।

यह शासन मात्र पन्द्रह वर्ष चला। कालान्तर में राजा को अक्षमता के अपराध में सेनापति चाओ फाया चक्री ने अपदस्य कर स्वयं सत्ता की बागडोर सम्हाल ली। वही चक्री साम्राज्य आज तक चल रहा है। उस शासक ने अपना एक और नाम राजा रामचन्द्र (प्रथम) भी रखा। और थाईलैण्ड में कला, संस्कृति के एक नए युग का सूत्रपात किया। रत्नकोशीन्द्र यानी बैंकाक को उसने अपनी नई राजधानी बनाया।

अब दस बज रहे हैं।

हमने सारे क्षेत्र की यानी कहिए कि सारे खण्डहरों की प्रदक्षिणा पूरी कर ली है। कार्यक्रम बनता है कि अब शीघ्रताशीघ्र लवपुरी की ओर प्रस्थान किया जाए।

जलपान के पश्चात वातानुकूलित बस फिर हवा से बातें करती हुई रवाना होती है-उत्तरपूर्व दिशा की ओर।

बैंकाक से लवपुरी की दूरी 160 किलोमीटर है। लगभग एक तिहाई यात्रा हम तय कर चुके हैं। लवपुरी को राजा नारायण ने बसाया था।

रास्ते में अनेक बस्तियाँ हैं। कोवै को थाईभाषा में ''का'' कहा जाता है। एक स्थान का नाम "सारा पुरी" है। सर पुरी से ही सारा पुरी बना होगा। यहीं सरोवर भी है एक।

अधिकांश घर काठ के हैं-खम्भों पर खड़े। जगह-जगह ताड़ के पेड़ हैं। नारियल पौधे तथा आम के बड़े-बड़े वृक्ष।

मार्ग के किनारे एक स्थान का नाम लमनाय लिखा है। सामने बजरी निकालने के लिए पूरा का पूरा पहाड़ छील दिया है। चारों ओर धूल बिखर रही है। यद्यपि हरियाली ही हरियाली है, हर दिशा में परन्तु पर्यावरण के साथ ऐसा खिलवाड़ उत्तर भारत के पर्वतीय क्षेत्रों में भी खूब दीखता है। ऐसी ही निर्ममता से वहाँ भी पहाड़ के पहाड़ नंगे कर दिए हैं। इस से भी भंयकर स्थिति, बल्कि इस से भी भयंकरतम स्थिति नेपाल में दीखती है। काठमाण्डू से तीस-चालीस किलोमीटर पूर्व दिशा में जाने पर, वहाँ बनैपा नामक स्थान से एवरेस्ट के हिममंडित शुभ्र शिखर बड़े साफ दीखते हैं, परन्तु सामने पहाड़ों की श्रृंखला चली गई है, जहाँ सारे के सारे पहाड़ वृक्ष विहीन हो गए हैं, एकदम नग्न। प्रकृति के सारे इतना निर्मम अमानवीय व्यवहार। हृदय दहल उठता है।

बस पूरी गति से भाग रही है। हर इमारत, हर दुकान पर थाइलैंड का राष्ट्रीय ध्वज फहरा रहा है। इस तरह की परम्परा यूरोपीय ऐशों में बहुत दीखती है। नार्वे में प्राय: हर घर के आगे एक सफेद खम्भा लगा रहता है, जिस में वहाँ की राष्ट्रीय पताका फहराती दीखती है। छितरे हुए घर हैं वहाँ। प्राय: अनेक लोग जनशून्य द्वीपों में भी रहते हैं, फहराते झण्डे दूर से ही दिखलाई देते हैं। इनमें आंगतुकों को यह समझने में भी सुविधा रहती है कि इसके आस-पास कोई आबादी है।

सालापुरी में सीमेण्ट का कारखाना दीख रहा है। कहते हैं, यहाँ तथागत के चरणों के चिन्ह अंकित हैं। ऐसी अनेक किंवदन्तियाँ हैं यहाँ पर कि अमुक सरोवर पर भगवान बुद्ध ने स्नान किया था। अमुक स्थान पर उन्होंने उपदेश दिए थे। थाई लोग यहाँ तक मानते हैं कि रामायण की अधिकांश घटनाएँ थाईलैण्ड में ही घटित हुई थीं। राम मूलत: थे ही थाईलैंण्ड के।

Created by Bhartesh Mishra

लगभग पौने तीन घण्टे की अविराम यात्रा के पश्चात हम लवपुरी पहुँचते हैं।

लवपुरी मध्य स्याम की सबसे अधिक प्राचीन नगरी है। इस का पुराना नाम "ल वो" है। इस नगर के मध्य भाग में मंदिरों के खण्डहरों में ऐसी अनेक भग्न प्रतिमाएँ हैं, जिनमें बुद्ध को खड़ा दिखलाया गया है। ये मूर्तियाँ न तो खमेर शैली की हैं, और न थाई शैली की ही। इन्हें देख कर अहसास होता है कि सम्भवत: ये उनसे भी पुरानी हैं।

एक मूर्ति में जहाँ संस्कृत में कुछ शब्द अंकित हैं, वहीं दूसरी में मोन भाषा में। ये मूर्तियाँ थाईलैंड में पाई गयी प्राचीन मूर्तियों से शिल्प में भिन्न है। ये गुप्त-काल की जैसे लगती हैं। ठीक वैसी ही जैसी सारनाथ या अजन्ता में उत्कीर्ण प्रतिमाओं में देखने को मिलती है। घुँघराले बाल, गोल आकृति असामान्य आकार। एक ओर विशिष्ठ बात है यहाँ की प्रतिमाओं में देखने को मिलती है, मूर्ति में मूर्तिकार का नाम भी अंकित रहता है। एक प्रतिमा में समाधि गुप्त खुदा है। मलाया में भी ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें मूर्तिकार के नाम के साथ वर्ष भी लिखा है। एक में पाँचवीं शताब्दी खुदा है। निश्चित ही वह गुप्त साम्राज्य काल की है।

नगर का कुछ हिस्सा आधुनिक है। आधुनिक दुकानें, होटल आदि, परन्तु शेष लगभग वैसे ही खण्डहरों का, जैसा अभी-अभी अयोध्या में हम देख चुके हैं।

राजा नारायण की विशाल मूर्ति भी है यहाँ।

सिंधी रेस्तराँ में कुछ क्षण विश्राम के पश्चात भ्रमण के लिए निकल पड़ते हैं।

यहाँ एक विशेषता यह भी दीखती है कि बौद्धों के साथ-साथ यहाँ हिन्दू देवी-देवताओं के मंदिरों के भग्नावशेष भी कम नहीं।

सामने खण्डहर में रतन महाधर का मंदिर है। पास ही ब्रह्मा-मंदिर। यहाँ खमेरों का प्रभाव अधिक रहा था। कहा जाता है कि कुछ खमेर शैव ही नहीं, वैष्णव भी थे। दीवारों पर उत्कीर्ण विष्णु की जीवन्त प्रतिमाएँ। क्षत-विक्षत।

खण्डहर में परिवर्तित राज प्रासाद।

सामने हरी घास का विस्तृत मैदान। दूर तक चला गया लम्बा रास्ता। कहते हैं, इसे 1666 में राजा नारायण ने निर्मित करवाया था।

गुलमोहर के, गहरे हरेपन से लदे, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष।

राजा सोम दत्त फरा नारायण अयोध्या की दूसरी राजधानी बनाना चाहते थे इसे। राजा राम चतुर्थ से यह कार्य आरम्भ हुआ और पाँचवें तथा छठे तक चला।

इन्हीं राजाओं के संग्रहालय भी हैं यहाँ। 2500-3500 ईसा पूर्व का एक मानव-कंकाल भी यहाँ रखा है। 12वीं शताब्दी की इन्द्र की प्रतिमा है। ऊपर के भाग में शिव तथा उमा की विशाल मूर्तियाँ सजी हैं। प्रज्ञापारपिता की भी एक दर्शनीय मूर्ति है। राजा राम (चतुर्थ) का बिस्तर। थाई सिक्के, तरह-तरह के।

राजा राम (चतुर्थ) के शासन-काल में थाईलैण्ड का इग्लैंड से सम्पर्क हुआ और इसाई मिशनरियों को यहाँ प्रवेश की अनुमति मिली। थाईलैण्ड में भूमि-सुधार की दिशा में भी ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हुए।

दूसरा संग्रहालय और अधिक महत्वपूर्ण लगता है। यहीं सुनहरे चित्रों के साथ अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ हैं। बौद्ध-जातक कहानियाँ।

राजा नारायण के शासन-काल में थाई-साहित्य का स्वर्णिम-युग माना जाता है। इस काल-खण्ड में अनेक कालजयी कृतियों का सृजन हुआ।

यों थाई-साहित्य का आरम्भिक समय सन् 1283 माना जाता है। जब "सुखोदय साम्राज्य" था। और राम (खाम) नामक राजा का शासन था।

''त्रैभूमि कथा'' का रचना काल सन् 1345 माना जाता है। संस्कृत का इस में बड़ा प्रभाव दीखता है।

''अयोध्या काल'' में थाई-साहित्य कई नए क्षितिजों को छूने लगा था, परन्तु बर्मा से पराजय के पश्चात् सारी प्रगति अवरूद्ध हो गई, कुछ समय के लिए।

थाई नरेश का थाई-साहित्य के विकास में बड़ा योगदान रहा है।

अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ देखने के पश्चात् हम संग्रहालय की सीमा-रेखा से बाहर निकलते हैं।

लगभग सारी लवपुरी देखने के बाद लौटने का कार्यक्रम बनता है। यद्यपि हमारे मन के किसी कोने में यह लालच भी छिपा था कि क्यों न ''विष्णु लोक नगर'' होते हुए चिंमगाई भी हो आया जाए। यहाँ से लगभग पाँच सौ किलोमीटर से अधिक दूर नहीं होगा।

उत्तर थाईलैण्ड की तुलना कश्मीर से की जा सकती है। प्रकृति की अनुपम छटा ही नहीं, लोग भी वहाँ के कम दर्शनीय नहीं। चिंमगाई से मंात्र 18 किलो मीटर से अधिक दूर नहीं है कस्बा लेम्पून, जहाँ के चाँदी के बर्तन विश्व भर में प्रसिद्ध हैं। यहाँ महावतों का प्रशिक्षण-केन्द्र भी है। विश्व में अपने किस्म का पहला।

Created by Bhartesh Mishra

प्राचीन मंदिरों का यह क्षेत्र स्वयं में अनेक विशेषताएं सहेजे हुए है। यहाँ के गगनचुम्बी पर्वत-शिखरों का सौंदर्य ही अद्वितीय है।

यदि आपने चिंमगाई नहीं देखा तो फिर कुछ नहीं देखा, एक थाई प्राध्यापक कहते हैं। परन्तु जब पहले से सारे कार्यक्रम निर्धारित हों तो एकाएक उनमें परिवर्तन करना आसान तो नहीं।

समय की सीमा के आगे झुकना ही पड़ता है। अत: हम फिर अपने को उसी मार्ग में पाते हैं, जिस से होकर बैंकाक से यहाँ पहुँचे थे।

सूरज ढलान की ओर फिसल रहा है।

सड़क पर एक चिह्न अंकित है। लिखा है, बैंकाक 138 मील।

फिर सिंहपुरी, फिर हरियाली, फिर बादल।

अनंग थान 87 मील।

प्रथम यानी प्रथम स्थान। अशोक रोड। लौह-प्रास।

मैं देख रहा हूँ, मेरे झोले में रखी सफेद चिकनी मिट्टी बिखर गई है। इस पवित्र मिट्टी को लबपुरी की बाजार में सौगात के रूप में खरीद कर लाए थे। कहा जाता है कि भगवान राम ने जो तीर अयोध्या से यहाँ फेंका था, उससे जल कर मिट्टी का रंग ऐसा हो गया है।

लवपुरी का निर्माण उसी धरती पर होगा, जहाँ यह तीर गिरेगा, राम ने कहा था'

राम ने क्या कहा था, क्या नहीं, हम इस प्रश्न पर न उलझ कर मिट्टी इसलिए उठा लाए हैं कि किसी प्रयोगशाला में इसकी जाँच करवाएँगे। आखिर है क्या?

बैंकाक पहुँचते-पहुँचते रात घिर आई है। सारा शहर बिजली की रंग-बिरंगी रोशनी से नहाया जगमगा रहा है। चाओ फाया नदी में अनेक नौकाएँ तिर रही हैं।

प्रो. श्रीसुरंग पुलथोपिया को कल के व्यस्त कार्यक्रमों की चिंता है। सभी यात्री थके हैं। आज का सारा दिन दौड़-भाग में ही बीता।

''भारतीय संस्कृति ने थाई संस्कृति को किस-किस रूप में प्रभावित किया'' दूसरे दिन प्राचीन इतिहास की प्राध्यापिका प्रो. श्रीसुरंग इस पर विस्तार से प्रकाश डालती हैं।

थाईलैंण्ड में भी एक राज्य का नाम **गन्धार** था। कहा जाता है कि मगध के चन्द्रगुप्त नामक भिक्षु ने यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। यहाँ भी बोधि वृक्ष है। गृन्धकूट पर्वत है। तथागत ने

जिस सरोवर के तट पर परम ज्ञान प्राप्त किया था, वह अब तक मौजूद है। यहाँ प्राचीन शिला-लेख भी प्राप्त हुए, संस्कृत में लिखे।

वह आगे बतलाती हैं कि आज भी थाईलैंण्ड के विश्वविद्यालयों के नाम विशुद्ध भारतीय हैं। जैसे शिल्प शास्त्र (शिल्पाकौन) विश्वविद्यालय, कृषिशास्त्र विश्वविद्यालय आदि। गुरु पूर्णिमा को **गुरु पूजा दिवस** के रूप में मनाया जाता है।

नदी को गंगा कहना और उसे **माँ गंगा** के नाम से सम्बोधित करना, यह संस्कार भारत से ही मिला है। वे **माँ गंगा** को **माँ खोंखा** उच्चारित करते हैं। उनके लिए हर नदी गंगा की तरह पवित्र है।

कहा जाता है कि थाईलैण्ड के राजपुरोहित आज भी बौद्ध नहीं, हिन्दू ब्राह्मण हैं। यद्यपि अभी भी थाईलैंण्ड में ब्राह्मणों की संख्या हजारों में है, किन्तु राजा द्वारा मान्यता केवल दस-बारह ब्राह्मणों को ही प्राप्त है।

थाई लोग **नव-ग्रहों** की पूजा करते हैं।

थाई सम्राट विशेष पर्व के दिन राजा जनक की तरह हल चलाते हैं। यही प्रथा आज भी इसी रूप में कम्बोडिया में जीवित है। राजा जब हल चलाते हैं, तो रानियाँ हल के पीछे-पीछे चलती हुई चाँदी के थालों में रखा बीज छिड़कती चली जाती हैं।

प्राचीन-भारत की तरह थाईलैण्ड में चार-आश्रमों की परम्परा आज भी मौजूद है। अनेक गृहस्थ अपने जीवन के अन्तिम दिन बौद्ध-मन्दिरों के प्रांगण में बिताते हैं।

शाम को बाजार देखने के लिए निकलते हैं। नई दिल्ली से लालकिले तक जैसे फटफटिया चलते हैं, उसी तरह बैंकाक में इसे ''टुक-टुक गाड़ी'' कहते हैं।

भारत सहित अनेक देशों के लोग प्रतिदिन यहाँ से अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदने बहुत बड़ी संख्या में आते हैं। अत: बाजारों में भीड़-भाड़ कम नहीं है। परन्तु वस्तुओं की चमक-दमक के बावजूद गुणवत्ता का वह स्तर नहीं दिखता। भारतीय मूल के लोगों की दुकानें भी बहुत हैं, परन्तु स्तर में विशेष अन्तर नहीं।

जो ऐतिहासिक स्थल देखने से रह गए थे, उन्हें भी जल्दी-जल्दी देखना नहीं भूलते। बाहर से स्वच्छता के बावजूद भीतर से गन्दगी भी कम नहीं। जापान की तरह नहीं कि भीतर-बाहर दोनों में कहीं कोई अन्तर नहीं।

बस, आज का दिन और है। कल सुबह की उड़ान से लौटना है।

Created by Bhartesh Mishra

दोपहर को भोजन के समय सब मिलते हैं। प्रो. श्रीसुरंग मुझे से कहती हैं, आप थाई रीति-रिवाजों के विषय में पूछ रहे थे। आज शाम मेरी एक शिष्या की शादी है। उसने आपको भी आमंत्रित किया है। शाम को चलिए न। अपने में वह एक नया अनुभव होगा।

श्री होटल आकर साथ ले जाती हैं।

ठीक वैसा ही वातावरण है, उसी तरह का, जैसा भारतीय विवाहोत्सव में देखने को मिलता है।

हर मेहमान का द्वार पर एक पुष्प देकर स्वागत होता है मुस्कराते हुए विनम्र भाव से दोनों हाथ जोड़ कर।

भीतर अलग-अलग मेजें सजी हैं। बस अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार स्थान ग्रहण करते चले जाते हैं। हर अतिथि को विवाह के उपलक्ष में प्रकाशित पुस्तक उपहार में दी जाती है। जिसके आवरण नव-विवाहित जोड़े का चित्र है।

एक सजे-संवरे मंच पर वर-वधु को बड़े गरिमामय ढंग से ले जाया जाता है।

वर के गले में वधु वरमाला डालती है, तो चारों ओर तालियाँ बजने लगती हैं।

वही संस्कृति, वही संस्कार। वैसे ही रीति-रिवाज। सम्पूर्ण थाईलैण्ड पश्चिम के गहरे रंगों में रंग जाने के बावजूद, अब भी कही वैसा ही है। पश्चिम की रंगीनियाँ विकार पैदा कर रही हैं, अर्थ अर्जन की अन्धी दौड़ में एक देश अपने पथ से विचलित होता हुआ जैसा दीख रहा है, परन्तु भीतर से, सदियों से संजोये संस्कार यों ही तो नहीं बदल जाया करते।

थाईलैण्ड अब भी मूल रूप में कहीं **स्याम** ही है। वहाँ के राजा भूमिबल अतुल तेज तथा रानी श्री कीर्ति आम लोगों की तरह आप लोगों से मिलते हैं, उनके सुख-दुख के साक्षी बनते हैं। इक्कीसवीं शताब्दी में ऐसे संस्कार। इनके मूल में कोई यथार्थ तो होगा ही।

लौटते समय कुछ वाट (थाई सिक्के) बच गए हैं। उन्हें किसी अन्धी वृद्धा के हाथ में रख कर, फिर उसी दिशा में लौटने लगते हैं, जहाँ से हम चले थे।

विमान पर चढ़ते-चढ़ते अचानक ख्याल आता है कि कोयल के जैसे सुमधुर स्वरों वाली वह चिड़िया आज प्रातः क्यों नहीं दिखलाई दी? कल जब हम उसे देखने के लिए वहाँ नहीं होंगे तो उसे कैसा लगेगा? लगता है थाईलैण्ड पीछे छूटने के बावजूद कहीं साथ-साथ चल रहा है।

****

पर्यटन और भारतीय साहित्य

डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर

समाज-सापेक्ष साहित्य

साहित्य और पर्यटन सामयिक महत्व का शीर्षक है। खासकर तब जब हाल ही में पर्यटन जीवन के सारे पहलुओं पर छाया है। भारतीय साहित्य की विकासशील धाराओं में पर्यटन या यात्रा साहित्य की धारा पुष्ट होती रही है।

पर्यटन का अर्थ

पर्यटन आजकल विशेष अर्थ का बोधक शब्द है। किन्तु मूलरूप से उसका शब्दार्थ है-घूमना। गतिशीलता जीवधर्म है। यदि हम किसी कारणवश अपने घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं पाते तो थोड़ी देर के बाद छटपटाने लगते हैं। एकरस जीवन बिताने वाले जब छुट्टी पाते हैं और कुछ घूमने का मौका मिलता है तब वे बहुत खुश होते हैं। खुली हवा में टहलना अपने में उल्लास देने वाली बात है। फेफड़ों में ताजगी और बदन में फुर्ती आती है। मनपसंद स्थानों की सैर तो ऐसी खुशी देती है जिसका वर्णन कठिन है। यही पर्यटन का सबसे बड़ा महत्व है।

बच्चे के लिए माँ की गोद ही सबसे सुहावनी होती है। यों प्रकृति के विविध दृश्य ही हमें सबसे पहले प्रेम से बुलाते हैं। कलकल करती नदियाँ, गरजता सागर, चिड़ियों की चहक से गूँजती अमराई आदि का आकर्षण अनोखा होता है। साहसी प्रकृति के लोग पर्वत के नये श्रृंगों पर चढ़ना जैसी खतरनाक यात्राएँ करना चाहते हैं। इतिहास के प्रेमी ऐतिहासिक स्थान देखने के शौकीन हैं तो जिन्दगी का मज़ा लूटने के इच्छुक लोग उनके लायक स्थानों को जाना पसंद करते हैं।

देश घूमने से पाप दूर

हमारे देश के पुराने पर्यटकों की बात सोचते वक्त मलयालम के एक लोकगीत की टेक याद आती है-देश-देश घूमने से पापफल दूर होता है (नाट्टु चुट्टि संचरिच्चाल पापकर्मं तीरुं)। हमारे बुजुर्ग, साधु महात्मा और भक्त जन दूर-दूर के मंदिरों, तीर्थों और पुण्य स्थलों की यात्रा करते थे।

Created by Bhartesh Mishra

वे अकेले या दलों में पैदल इन स्थानों तक यात्रा करते थे। रेल और मोटरगाड़ी दो सौ वर्ष से पुरानी नहीं है। यहाँ सड़कों की व्यवस्था भी पक्की नहीं है। तब भी वे साहसपूर्वक भगवान की कृपा के भरोसे चलते थे। हमारे देश के पवित्र तीर्थ स्थान उनके ध्येय रहे- जम्मू में वैष्णों देवी से लेकर दक्षिणतम कन्याकुमारी तक, पश्चिम में सोमनाथ मंदिर से लेकर पूरब में नेपाल के पशुपति नाथ मंदिर तक सैकड़ों मंदिर व पुण्यतीर्थ भक्तों को आकृष्ट करते थे। वैष्णों देवी की यात्रा, काशीयात्रा, व्रजपरिक्रमा, पंढरीपुर की यात्रा, वैद्यनाथ धाम की यात्रा, तिरुपति की यात्रा, डाबरी पहाड़ की यात्रा-ये कुछ प्रसिद्ध यात्राएँ रही हैं। इन स्थानों की पैदल यात्रा साहस जरूर माँगती थी।

शैव व वैष्णव कवियों के वर्णन

भक्तों और साधु महात्माओं के विषय में कुछ महत्वपूर्ण बातें हैं। एक यह कि ये भिन्न-भिन्न संप्रदाय या धर्म के थे। वैष्णव भक्त वैष्णव मंदिरों की यात्रा करते थे तो शैव शिवमंदिरों के दर्शन चाहते थे। बौद्ध व जैन धर्म के आस्थावान लोग अपने धर्म से जुड़े स्थानों पर जाते थे। इनमें जो लोग काव्य या पद रचने में कुशल थे उन्होंने अपने देखे मंदिर या तीर्थ पर पद, गीत आदि रचे थे। शिष्यों या अनुयायियों ने उन्हें लिपिबद्ध किया। इस प्रकार तमिल के वैष्णव एवं शैव साहित्य में अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। उदाहरणर्थ आषवारों में प्रमुख नम्मापृवार ने अन्य मंदिरों के समान चेरदेश के बाहर तेरह तिरुपतियों (वैष्णव मन्दिरों) पर भी पद गाए। उन्होंने तिरुअनन्तपुरम तिरुवट्टार तिरुवल्ला, तिरुनावाय, तिरुक्काक्करा, तिरुकोटित्तानम आदि के देवताओं पर गाया। ये सब "नालारियम" दिव्य प्रबंधम में प्राप्त हैं। ये तमिलनाडु के अनेक वैष्णवों को हृदिस्थ है। वे समय-समय पर केरल के वैष्णव मन्दिरों की यात्रा करते हैं। इसी तरह शैव काव्य तेवारम् और तिरुवाचकम् में शैवमंदिरों पर पद है। इस संबन्ध में एक रोचक घटना स्मरण आती है। कोटुंगल्लूर में तिरुवंचिक्कुलम मुहल्ले में एक प्राचीन शिवमंदिर है। उसका उल्लेख शैवकाव्य में है। शैवों का दृढ़ विश्वास है कि सुन्दरमूर्ति नायनार को श्री चेरमान नायनार ने तिरुवंचिक्कुलम पर स्वर्ग को प्रस्थान कराया था। उस पवित्र तिथि को मनाने तमिलनाडु के शिवभक्त पूरे दल में गत वर्ष तिरुवंचिक्कुलम आये थे। ऐसे अनेक उदाहरण जनश्रुति में सुलभ हैं।

जिन भक्तों के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं वे भी घुमंतू रहे हैं। संत कबीर ने स्वयं बताया है कि उन्होंने मसि कागद छुआ नहीं और उन्होंने जो कुछ ज्ञान पाया सत्संग से पाया। मीरा राजस्थान से वृन्दावन तक हरिगुन गाती चली थी। इन दोनों का हिन्दी के भक्ति साहित्य को योगदान प्रसिद्ध है। प्रभु गौरंग चैतन्य दल सहित वृन्दावन गए और उस तीर्थ की बड़ी व्यवस्था कर दी थी। उसके बाद वृन्दावन का यश विशेष रूप से बढ़ा।

पर्यटक और इतिहास

अतीत के तथ्य साहित्यकारों की कल्पना से रंजित रूप में, साहित्य में कविता, कथा, नाटक आदि के माध्यम से प्रकट होते हैं। इतिहासकार अतीत के तथ्यों का संग्रह संपादन कर उन्हें क्रमबद्ध रूप से पठनीय भाषा में पेश करते हैं। ये दोनों प्रसिद्ध पर्यटकों के दिए विवरणों से काफी सामग्री लेते हैं, बल्कि उन्हीं पर निर्भर करते हैं। पूरे भारत और राज्यों के विषयों में समय-समय पर कई यात्री अपनी प्रतिक्रिया डायरी व विवरण के तौर पर छोड़ गए हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के विषय में ह्यूएनसांग, फाहियान, इत्सिंग, अलबेरुणी, मार्को पोलो और अनेक अन्य यात्रियों के विवरण उपलब्ध हैं। इतिहासकारों और ऐतिहासिक वाङ्मय के रचनाकारों ने उन सब का उपयोग किया है।

यात्रियों के प्रकार

अतीत के यात्रियों को श्रद्धाजांलि चढ़ाने के बाद हम इस बात पर विचार करें कि पर्यटन से साहित्य कैसे रचा जाता है। यात्री कई प्रकार के होते हैं। कुछ लोग रेलगाड़ी में खाते-पीते-सोते हुए पार्सल की तरह अपने लक्ष्य स्थान पर पहुंचते हैं। उनकी आँखें चारों तरफ के दृश्यों का विशेष निरीक्षण नहीं करती। न उनके मस्तिष्क में कोई कल्पना सजग हो उठती है। कुछ यात्री व्यर्थ की गपशप में समाज, धर्म और राजनीति की खोखली चर्चा करते हुए या बिरादरी के लोगों की आलोचना करते चलते हैं। किन्तु कुछ कल्पना धनी और प्रतिभावान यात्री होते हैं जिनकी आंखों का कैमरा चारों तरफ़ के अद्‌भुत दृश्यों को अपने भीतर बन्द कर लेता है। वे घटनाओं और व्यक्तियों को स्मृति में सुरक्षित करते हैं। कोई-कोई घर लौटकर डायरी में नोट भी करते हैं। ऐसे लोग बाद में यात्रा के संस्मरण लिखते हैं।

एक संस्मरण

एक संस्मरण याद आता है। श्री ओ.एन.वी. कुरुप और मैं उस दिन भोपाल से रेलगाड़ी में बैठे थे। हमारे डिब्बे में एक युवा दंपति और उनका प्यारा मुन्ना था। । वे कुछ समय बाद किसी स्टेशन पर उतर गए। मुन्ने का छोटा-सा काँच या प्लास्टिक कंगन उनके बर्थ पर छूट गया। वह ओ.एन.वी. के हाथ लगा उन्होंने उसे बच्चे की कल्पना में ऐसे सुंदर वाक्य सुनाए जो उनकी कवित्वकला का प्रमाण थे। हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी के समुद्र तक सैकड़ों प्रेरणास्थल पर्यटकों को वर्षों से मुखरित करते आये हैं। कालिदास ने हिमाचल का वर्णन किया। उन्होंने लंका से अयोध्या को पुष्पक विमान से लौटते श्रीराम से सीता को यात्रा के विधि दृश्यों का वर्णन सुनवाया है। उन्होंने मेघदूत में मेघ की रामगिरी से अलकापुरी की यात्रा का भी वर्णन किया। काव्य सुषमा व मानव जीवन का सम्मिलन इनमें मिलता है। ऐसे प्रसंग साहित्य प्रेमियों को बड़ा हर्ष देते हैं। कालिदास को पर्यटकीय कवि कहना गलत है पर उनके काव्य के प्रस्तुत प्रसंग पढ़ने से ज्ञानवर्धन एवं पर्यटन का आनंद प्राप्त होता है।

Created by Bhartesh Mishra

प्राचीन साहित्य-समीक्षकों ने गद्य साहित्य की विविध विधाओं पर जोर नहीं दिया क्योंकि प्राचीन युग में साहित्य नाटक को छोड़कर अधिकतर पद्यमय था। गद्य साहित्य अपेक्षाकृत आधुनिक है। तिसपर पश्चिमी साहित्य के संपर्क ने यात्रा साहित्य एवं संस्मरण लिखने की प्रेरणा दी।

मैंने भारतीय भाषाओं के यात्रा साहित्य की झांकी के लिए डॉ के० एम जार्ज द्वारा संपादित समकालीन भारतीय साहित्य (मलयालम) पढ़ा। उस ग्रंथ से प्राप्त जानकारी के अनुसार यात्रा-संस्मरण या पर्यटन वर्णन करने की परंपरा नहीं थी। किसी-किसी भाषा में सत्रवीं-अठारहवीं सदी में एकाध यात्रा-संस्मरण अवश्य रचे गये। किन्तु अधिकतर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ही यात्रा-साहित्य सुपुष्ट हुआ।

तीन प्रकार का यात्रा वर्णन

विषय के आधार पर तीन प्रकार का यात्रा वर्णन मिलता है:-

1. किसी राज्य के भीतर के दृश्यों-स्थानों का वर्णन
2. भारत के विभिन्न स्थानों की यात्रा का वर्णन
3. विदेश यात्रा के अनुभवों का वर्णन।

भारतीय भाषाओं के यात्रा साहित्य के अंतर्गत दूसरी और तीसरी कोटि के ग्रंथों की संख्या अधिक मिलती है। इनमें ग्रंथ भी हैं। पर पत्रिकाओं में प्रकाशित संस्मरण एवं फीचर ही बड़ी संख्या में प्राप्त हैं। राज्य के भीतरी स्थानों का चित्रण अन्य राज्यों वाले बल्कि विदेशी ही अधिक उत्साह से करते हैं। भारत के प्रमुख पर्यटन-साहित्य-विषयों में हिमाचल, कश्मीर, शिमला, ऊटकमंड, कोडैकनाल जैसे पर्वतीय स्थान, प्रयाग-संगम, बदरीनाथ, केदारनाथ, हरिद्वार, ऋषिकेश, मथुरा-वृंदावन जैसे उत्तर भारत के मंदिरों के अलावा दक्षिण के मदुरै, महाबलिपुरम, कोवलम, कन्याकुमारी जैसे केंद्र भी शामिल हैं। देश के प्रमुख उत्सव होली, दीपावली, ओणम, बैसाखी, बिछू आदि पर्यटकों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर आकृष्ट करते हैं।

विदेश यात्रा का लोभ

भारतीयों द्वारा विदेशी यात्रा के अनुभवों का वर्णन ही यात्रा साहित्य में मिलता है। इसके कई कारण हैं। मुख्य कारण है कि भारतीय लेखक को विदेश की हर चीज़ आश्चर्य में डालती है। वहाँ विज्ञान व प्रौद्योगिकी के चमत्कार देखकर उसके ताज्जुब का ठिकाना नहीं रहता इसलिए वह उन दृश्यों और अनुभवों का वर्णन करता है। औसत भारतीय को बुलेट ट्रेन, जंबो हवाई जहाज़, समुद्र के भीतर की नाव सैर आदि अनुभव अजीब लगते हैं। अपनी आर्थिक दशा के प्रतिकूल होने से उसके मन के अरमान पूरे नहीं होते। ऐसे पाठक को पुस्तक के माध्यम से ही

सही, विदेश के एक से एक अद्भुत दृश्य देखने, उसका मजा पाने का सौभाग्य मिले तो वह खुश क्यों न हो।

हमारे साहित्यकारों द्वारा चर्चित विदेशों में अब प्रमुख अमेरिका है। प्रारंभिक दिनों में इंग्लैंड, सिंगापुर व अमेरिका थे। लेकिन देश में साम्यवाद की धूम फैलने के बाद रूस और चीन प्रिय देश बन गये। पोट्टेक्काटु जैसे कुछ लेखकों ने अफ्रीका बालीद्वीप आदि की भी कथाएँ लिखी। जापान और पश्चिम एशिया के देश शीघ्र ही पर्यटन साहित्य के प्रिय बन गए। इन विदेशों की प्रकृति, संस्कृति, शिक्षा, उद्योग, मनोरंजन, सामाजिक गठन, राजनीति आदि हर पक्ष चर्चित होता आया है। इन देशों की सरकारें पर्यटकों और संचार माध्यमों की सुविधा के लिए अपनी तरफ़ से सूचनाओं का भण्डार तैयार कर सस्ते भाव पर और मुफ्त भी देती हैं। इनके आधार पर पयर्टन साहित्यकार विस्तार से लिखते हैं। सरकारी प्रकाशन देश की भीतरी कमजोरी छिपाते हैं। इसलिए पाठक ऐसा अनुभव करते हैं कि हमारा देश बहुत पिछड़ा है, कमजोर है। दूसरे देश बहुत अच्छे हैं। लेकिन सभी देशों के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्ष हैं।

यात्रा साहित्य के अध्ययन से लाभ

यात्रा-साहित्य पढ़ने के कई प्रकार के लाभ हैं। जिन के लिए पर्यटन की सुविधा दुर्लभ हो वे पुस्तक या पत्रिका में पढ़े हुए वर्णन व अनुभव से मन ही मन पर्यटन की कल्पना और आनंद पा सकते हैं। यही नहीं, पर्यटक सीमित समय में किसी नगर का कोना तक भली-भाँति देख नहीं पाते। ग्रंथ पारायण से आप पूरे दृश्यों का अनुभव इच्छानुसार कर सकते हैं। जो पर्यटन की सुविधा रखते हैं, वे पर्यटन साहित्य पढ़ने के बाद यह अनुभव पाते हैं कि उनका आनंद दुगुना होता है। यात्रा के बाद पर्यटन साहित्य पढ़ने पर अपने अनुभव की कमी को पूरा कर सकते हैं। अधिकांश पर्यटन साहित्यकार इसी प्रकार लेखन पूर्ण कर सकते हैं। किसी स्थान को देखने के पहले साहित्य में विवरण पढ़ लेने से दृश्य का आनंद दस गुना होता है। इसके अभाव में यात्री अधकचरे गाइड की टूटी-फूटी भाषा में उसकी कल्पित बातें ही सुनने को मजबूर होते हैं। अधिकतर सामान्य यात्री पर्यटन-स्थान पर घूमने की औपचारिकता ही पूरी करते हैं। मंदिरों की क्यू की तरह क्यू में बढ़ते-बढ़ते यात्रा पूरी करते हैं।

अनिवार्य तत्व

अब यात्रा-साहित्य के आवश्यक गुणों पर एकाध बातें करें। भावपक्ष में लेखक को अपने विषय पर अधिकाधिक जानकारी होनी चाहिए। दूसरे, तथ्यों में पाठकों के लिए जरूरी और रोचक तथ्यों को पहचानने और प्रस्तुत करने की क्षमता लेखक में होना जरूरी है। आस्वाद्यता व पठनीयता ऐसे लेखन की सफलता का मर्म है। उस लेखक को कवि-हृदय प्राप्त होना चाहिए।

Created by Bhartesh Mishra

पत्रकारिता के मर्मों से परिचित होना चाहिए ताकि मुख्य बातें छूट न पावें। शिल्प-पक्ष में एक तेज कलम चाहिए जो प्रसंगोचित भाषा में धड़ा-धड़ लिख सके। अपने अनुभवों के वर्णन में भी अपने व्यक्तित्व को संयत रखना जरूरी है। कारण यह कि पाठक पर्यटन-साहित्य में स्वयं सब कुछ देखना व आनंद पाना चाहते हैं। वे आपके व्यक्तिगत चमत्कार की प्रशंसा सुनने में कोई रुचि नहीं रखते। भाषा की प्रभावशीलता सबसे महत्व की है।

भारतीय भाषाओं में पर्यटक सहायक

भारतीय भाषाओं में वर्तमान स्थिति पर भी कुछ बात कर इस आधार लेख को समाप्त किया जा सकता है। हमारे देश में अब पर्यटन-सेवा की धूम है। सरकारी व गैर-सरकारी तंत्र इसके पीछे पड़ा है। होटल, परिवहन स्वामी और निजी प्रकाशक पर्यटक के लिए सूचनाएं तैयार कर देते हैं। मगर अफ़सोस है कि अधिकांश सामग्री अंग्रेजी में छपती है। भारतीय भाषाओं की घोर उपेक्षा है। राज्यों के प्रमुख पर्यटक केन्द्रों पर भारतीय भाषा में उत्तम सूचनापूर्ण ग्रंथ नहीं मिलते। सभी विदेशियों को खुश करने के लिए अधीर हैं। इसकी जिम्मेदार केवल सरकार नहीं। हम सामान्य शिक्षित नागरिक ही जिम्मेदार हैं। हिन्दी प्रदेश के किसी-किसी सम्मेलन में जब कोई अंग्रेजी में बोलने लगते हैं तब हिन्दी में बोलने का आग्रह किया जाता है। यह आग्रह पर्यटन केन्द्रों के साहित्य के विषय में हो तो हिन्दी में पर्यटकीय साहित्य सुपुष्ट हो जाएगा। यह हिन्दी ही नहीं, सारी भारतीय भाषाओं के लिए लागू है।

****

सतना जिले का गौरव भरहुत

राजीव लोचन सोनी

विश्वविख्यात बौद्ध तीर्थ स्थली भरहुत मध्य प्रदेश के सतना जिले में स्थित है। शुंगकालीन धर्म एवं कला का यह महत्वपूर्ण केन्द्र वर्तमान में एक छोटे से गांव के रूप में है। इसके स्वर्णिम अतीत के स्मृति-चिन्ह गांव के बाहर पूर्व दिशा में स्थित विशाल टीले के अन्दर छिपे हुए हैं।

भरहुत के कलावशेष जिन्होंने भारतीय कला को समृद्ध किया एवं जो विश्व कला जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, 16वीं शताब्दी के अन्त तक अज्ञात ही थे। भरहुत कला के इन लुप्त प्रायः स्वर्णिम पृष्ठों को कला जगत के सम्मुख लाने का श्रेय भारतीय पुरातत्व के पितामह कहे जाने वाले सर अलेक्जेंडर कनिंघम को है। उन्होंने सन् 1873 में इस स्थल की खोज की। भरहुत सतना जिले के नागौद तहसील के अन्तर्गत जिला मुख्यालय सतना की दक्षिण दिशा में लगभग 23 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। यहां से निकट पड़ने वाले रेलवे स्टेशन सतना, लगरगवां तथा उचेहरा हैं जो मध्य रेलवे के जबलपुर-हलाहाबाद रेल-मार्ग पर पड़ते हैं। यहाँ आने के लिए सतना एवं सतना-अमरपाटन सड़क मार्ग के ये दो रास्ते हैं। इन दोनों ही रास्तों में लगभग 5 कि. मी. का मार्ग कच्चा पड़ता है।

अपनी महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति के कारण ही भरहुत में चेत स्तूप का निर्माण किया गया। बौद्ध ग्रंथ दोषचिन्तय के महापरिविषयन सुत्त में भगवान बुद्ध और उनके प्रिय शिष्य आनन्द के मध्य हुए एक संवाद का उल्लेख है जिसमें बुद्ध ने आनन्द को आदेश दिया था कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी अस्थि-अवशेषों को स्तूपों में समाहित किया जाये और यह स्तूप देश के विभिन्न स्थानों पर उसी भांति निर्मित किये जायें जैसे चक्रवर्ती राजाओं के किये जाते थे। भरहुत, कौशाम्बी को चेदि जनपथ और दक्षिण को कोशल से जोड़ने वाले महत्वपूर्ण प्राचीन राजमार्ग के मध्य में स्थित था। इसीलिए स्तूप निर्माण के लिए इस स्थल को उपयुक्त समझा गया। इसी प्राचीन राजमार्ग पर भरहुत से लगभग 140 कि.मी. दूर उत्तर-पूर्व में देउर कोठार नामक स्थान पर ईंट निर्मित मौर्य कालीन तीन बौद्ध स्तूप कुछ ही वर्षों पूर्व प्रकाश में आये। देउर रीवा जिले के अन्तर्गत स्थित है।

कनिंघम ने प्राचीन साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के वर्णन में उल्लिखित कुछ प्राचीन स्थानों के नामों से भरहुत का साम्य स्थापित करने का प्रयास किया था। कोशलराज प्रसेनजित के

Created by Bhartesh Mishra

पुरोहित बावरी की कथा में उज्जैन और कौशाम्बी के राजपथ पर स्थित नगरों में विदिशा आदि स्थानों के नाम मिलते हैं जिनमें से एक-दो को कनिंघम ने भरहुत का प्राचीन नाम माना है। तोल्मी ने अपनी ज्योग्राफी में उज्जैन से पाटलिपुत्र के पथ पर स्थित नगरों में बरडओटिस का उल्लेख किया है जो कनिंघम के मत में भरहुत नाम से संबंधित है। तिब्बतीय कुल्व में साम्यक का उल्लेख है जो कपिलवस्तु से निष्कासित होकर भरहुत आया था।

भरहुत यक्षी

भरहुत के ऐतिहासिक इतिवृत्ति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वह क्षेत्र आटवी राज्य के अर्न्तगत था। प्राचीन साहित्य एवं अभिलेख में आटवी राज्य का उल्लेख मिलता है। समुद्र गुप्त द्वारा विजित राज्यों में आटवी भी एक था। जायसवाल के मत में आटवी बघेलखण्ड और पूर्वी दिशा में बुंदेलखण्ड के अर्न्तगत था। राय चौधरी इसे माजीपुर और डाहल के वनप्रान्तर का क्षेत्र मानते हैं। मौर्य शासनकाल में आटवी राज्य मौर्य साम्राज्य का एक अंग था। मौर्य वंश के अवसान के पश्चात् शुंगों के राज्य सत्ता पर आधिपत्य स्थापित करने पर यह क्षेत्र शुंग राजाओं के अधिकार में आ गया। द्वितीय शताब्दी में कौशाम्बी में मघ शासकों का शासन था। मघों का राज्य कौशाम्बी व दक्षिण कोशल तक विस्तृत था। अतः भरहुत पर भी इसका आधिपत्य होने की संभावना है। मघों के पश्चात् यह क्षेत्र गुप्त राजाओं के आधिपत्य में आया। गुप्त शासकों के मांडलिक के रूप में परिवाजयक वंशी राजाओं का शासन था। इसके पश्चात् यह क्षेत्र कलचुरि एवं बघेल राजाओं के आधिपत्य में रहा।

स्तूप रेलिंग पर अंकन

187 ईसा पूर्व में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर एक अभूतपूर्व घटना हुई। मौर्यों के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य सम्राट ब्रहद्रथ का वध कर पाटलिपुत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया तथा शुंग वंश की नींव रखी। इस तरह शुंग न केवल मौर्यों के राजनैतिक उत्तराधिकारी हुए वरन् उन्होंने पूर्व से ही चली आ रही मौर्यों की निर्माण परम्परा को भी बनाये रखा। बुद्ध के देहावसान के पश्चात् उनकी अस्थियों का विभाजन कर उन पर आठ महान स्तूपों का निर्माण किया गया। बौद्ध परम्परा के अनुसार मौर्य सम्राट अशोक ने इन स्तूपों से बुद्ध के अस्थि अवशेष निकाल कर उन पर अपने साम्राज्य में चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। यद्यपि यह संख्या अतिशयोक्तिपूर्ण है फिर भी विभिन्न स्थानों पर किये गये उत्खननों से अशोक कालीन स्तूपों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें पिपरहवा, सारनाथ, साँची, (भारत), तक्षशिला एवं ममोररयान (पाकिस्तान) प्रमुख हैं। भरहुत के मूल स्तूप को भी कनिंघम एवं अन्य विद्वानों ने मौर्यकालीन माना है। मौर्यकालीन ईंट निर्मित स्तूप का शुंग काल में विस्तार किया गया तथा उसे वेदिका तोरणों से अलंकृत किया गया।

अपने निर्माण के पश्चात् यह महान स्तूप कब तक धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र बना रहा कहना संभव नहीं है। सन् 1873 में जब कनिंघम यहाँ आया उस समय यह महान स्तूप पूर्णतः ध्वस्त हो चुका था तथा इसके अवशेष 6-7 फुट ऊँचे टीले के अन्दर समाहित थे। सन् 1874 में

Created by Bhartesh Mishra

कनिंघम ने अपने सहयोगी बंगलर की सहायता से यहाँ उत्खनन कार्य कराया। उत्खनन के पश्चात् कनिंघम को मुख्य स्तूप की नींव के अवशेष, वेदिका का एक चौथाई भाग तथा तोरण आदि के खण्ड प्राप्त हुए। प्राप्त अवशेषों के आधार पर कनिंघम द्वारा सम्पूर्ण स्तूप के स्थापत्य की परिकल्पना की गई। भूमिका योजना में भरहुत के मण्डलाकार स्तूप वेदि का व्यास 67 फुट साढ़े अट्ठारह इंच था स्तूप से 10 फुट 4 इंच की दूरी पर एक वेदिका थी। मेधि तथा वेदिका के बीच का भाग प्रदक्षिणा पथ के रूप में था जिसे पाषाण शिलाओं से आच्छादित किया गया था। भूमि तल पर स्तूप की वेदिका दोहरी थी जिसमें आंतरकि वेदिका की ऊँचाई लगभग 8 फुट तथा बाह्य वेदिका की ऊंचाई 33 इंच थी। कनिंघम को बाह्य वेदिका के केवल दो स्तंभ प्राप्त हुए। कनिंघम के मत में बाह्य वेदिका एक समतल भूमि स्थल पर बनी थी और इस प्रदिक्षणा पथ तक नीचे पहुंचने के लिये सोपानों की योजना थी। स्तूप के चारों ओर कई तोरण द्वार थे। तोरण द्वारों की योजना इस प्रकार थी कि वह स्वास्तिक का आकार ग्रहण कर लेती थी। तोरण के स्तंभ 5 फुट 6 इंच की दूरी पर थे। स्तूप की वेदिका के तीन भाग थे। स्तम्भ सूचियाँ एवं उष्णीय इन तीनों का निर्माण पृथक-पृथक करके सूचिमुख एवं शिला कंटक द्वारा आपस में फंसा कर वेदिका का निर्माण किया गया था। वेदिका के स्तम्भों के सम्मुख एवं पार्श्व भाग पर पद्म तथा अर्घ पद्म बनाये गये जिनके अन्दर मानवीय मुखाकृति तथा पक्षियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण की गयीं थीं। इसके अतिरिक्त यक्ष-यक्षणियों एवं विभिन्न देवताओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुईं। कनिंघम को सम्पूर्ण वेदिका की 228 सूचियों में से केवल 80 प्राप्त हुई थीं। स्तूप के चारों तोरणों में से कनिंघम को केवल पूर्वी तोरण ही प्राप्त हुआ।

भरहुत से प्राप्त कला सामग्री को कनिंघम द्वारा कलकत्ता स्थित भारतीय संग्रहालय में स्थानान्तरित कर दिया गया। इसके अतिरित भरहुत के अवशेष इलाहाबाद संग्रहालय, रामबन संग्रहालय, सतना, भारत कला भवन, वाराणसी, पुरातत्व संग्रहालय, सागर विश्वविद्यालय, प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई तथा अमेरिका की फ्रेयर गैलरी में भी संग्रहीत हैं। भरहुत गांव के समीप गतौरा एवं भटनवारा में भी भरहुत के कला अवशेष प्राप्त हुए।

भरहुत का शिल्प लोक विषय वस्तु की दृष्टि से पर्याप्त विविधता लिए हुए है। बौद्ध धर्म से संबंधित घटनाओं, जातक कथाओं के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक परिवेश, लोक संस्कृति एवं उत्सवों आदि की मनोरम झांकी भरहुत शिल्प में देखने को मिलती है। भरहुत की सामग्री में मूर्ति कला तथा शिला पर कथा के अंकन के माध्यम से कला का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। इसके साथ उत्कीर्ण अभिलेख कथानक को स्पष्ट करने में सहायक हैं। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जो प्राय: दानकर्त्ताओं के नाम, व्यवसाय, निवास स्थान का उल्लेख करते हैं।

कनिंघम ने अपने कार्यों का विवरण तथा भरहुत की कला की विवेचना अपने ग्रंथ ''स्तूप ऑफ भरहुत'' में की है। उनका यह ग्रंथ 1871 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद ''भरहुत स्तूप'' नाम से डॉ. तुलसी राम शर्मा ने किया है। कनिंघम का यह ग्रंथ एवं उनके द्वारा खोजी गई कला सामग्री भविष्य में विद्वानों के अध्ययन आधार बनी। इसी आधार पर परवर्ती विद्वानों ने भरहुत की कला का अध्ययन एवं विवेचना की। सन् 1926 में बरूआ और सिन्हा का ग्रंथ भरहुत इन्सक्रिप्शंस हुआ। बाद में श्री बरूआ द्वारा लिखित ग्रंथ भरहुत तीन भागों में प्रकाशित हुआ। बरूआ के अतिरिक्त विदेशी विद्वान् एण्डरसन, वलेडेनवर्ग, सेविडेज आदि ने भी भरहुत की सामग्री को अपने अध्ययन का विषय बनाया। 1941 में ल्यूडर्स का ग्रंथ जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। 1962 में वाल्डरियह तथा मेददले ने इसका संशोधित एवं परिवर्तित संस्करण भरहुत इन्सक्रिप्शंस नाम से प्रकाशित किया। भारतीय मूर्ति कला की नई पीढ़ी के विद्वान् डॉ. रमानाथ मिश्र द्वारा लिखित भरहुत नामक ग्रंथ मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित किया गया है।

वर्तमान में भरहुत गांव में अनेक स्तूपों के भगनवशेष दृष्टिपात होते हैं।

****

Created by Bhartesh Mishra

रेतीले आंचल में कला का रोमांस

मीमांसक

बड़ी-छोटी लहर की आकृतियों में थम-सी गई, दूर-दूर तक फैली पीली रेत, उस रेत पर लगभग उड़ते हुए-से उबड़-खाबड़ ऊँट, मर्दानी पगड़ियों की छटाएँ, अपने रंगों से मन को बांध लेने वाली औरतों की चोलियां और घाघरें व उनके भारी-भरकम चांदी के अद्भूत अनूठे गहने, दूसरों की मदद के लिए हमेशा उद्यत व्यक्तित्व— ये सब कुछ ऐसी चीजें हैं जो राजस्थान को देश-विदेश के हरेक सैलानी के लिए सपना बना डालती हैं। और इस रेतीले देश के नियम भी अजीब हैं। दिन भर प्रखर सूरज दूर-दूर तक फैली रेत की चादर की सिकाई करता है तो रात होते ही वही रेतीली चादर जाड़ों के मौसम में बर्फ के आगोश-सी सर्द हो जाती है। उसी राजस्थान में एक ऐसे ही नामालूम-से व्यक्तित्व वाला एक शहर है ओसिया, जो जोधपुर जिले के करीब 70 कि.मी. उत्तर-पश्चिम में स्थित है। पर है यह बेहद खास। यों तो पहली नजर में यह बेहद सामान्य-सा कस्बा दीखता है पर ज्योंहि आप आक, कीकर और बबूल के झुरमुट में अधछिपे भग्नावशेष लाल-तांबई रंग के मंदिरों की अद्भूत दुनियां में कांटों से बचते-बचाते प्रविष्ट होते हैं, यह छोटा-सा ठहरा हुआ शहर आपको सीधे हजार साल पहले की दुनियां में ले जाता है, जब यह राठौरों यानी गुर्जर-प्रतिहार राजाओं के संरक्षण में न सिर्फ आर्थिक रूप से सम्पन्न एक केन्द्र था वरन सांस्कृतिक रूप से भी उतना ही वैभवशाली। खूबसूरती के राजस्थानी फैंटेसी पर मानों यहां कला ने टिकुली सी गला दी हो। सांस्कृतिक कलात्मक वैभव की कथा का यह कोमल-सा अध्याय यहां की गलियों में रेत में दबे इन मंदिरों में खंडहरों के रूप में सुरक्षित है। इस शहर को भग्न मंदिरों वाला रेगिस्तानी शहर कहें तो अनुचित न होगा। कहा जाता है जब यह शहर अपनी समृद्धि के शिखर पर था तो यहां सिर्फ जैन धर्मावलंबियों के ही 108 कलात्मक मंदिर हुआ करते थे। पर अब समय की मार से बचे एक जैन तथा 11 बड़े एवं चार छोटे हिन्दू मंदिर उस समय की स्वर्णिम गाथा कह रहे हैं। पुरागाथाओं में इस शहर को उकेश, उपकेश, उपकेशरपुर पट्टण, उवसिशाल, नवानेरी नगरी आदि नामों से अभिहित किया गया था।

किसी जमाने में यह आज की तरह छोटा कस्बा नहीं था। बल्कि अनेकानेक गतिविधियों वाला एक बड़ा केन्द्र था। इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस प्राचीन शहर का मुख्य द्वार यहां से 28 मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित घटियाला में था। माता की साल से प्राप्त

ओसिया के मंदिर

हुए गुर्जर-प्रतिहार वंश के कक्कुट राजा के अभिलेख में इस बात का उल्लेख है कि आभीरों पर विजय की स्मृति में दो स्तंभ (एक मंदौर तथ दूसरा रोहिमशाल में) खड़े किये गये थे तथा राजा कक्कुट ने सड़क एवं मकानों से युक्त एक हाट या बाजार बनवाया था तथा वहां ब्राह्मणों, व्यापारियों एवं योद्धाओं को लाकर बसाया था।

जहां तक इसके वर्तमान नाम **ओसिया** का ताल्लुक है, मारवाड़ी में इस शब्द का अर्थ है **''शरण''**। कहा जाता है कि यहां के परमार शासक उप्पल देव, जो पहले देवी चामुंडा के उपासक थे और जिन्होंने बाद में चल कर जैनमत में दीक्षा ग्रहण की थी, ने यहां शरण ली थी। उस समय से यह शहर ओसिया कहा जाने लगा। उप्पलदेव ने ही सचिया माता का मंदिर भी बनवाया था। पर जैन धर्म ग्रहण करने के बाद उन्होंने इस स्थल को जैन धर्मावलबिंयों के एक मजबूत गढ़ में परिवर्तित कर दिया। आज भी यह ओसवाल जैनों का एक समृद्ध कस्बा है। श्वेतांबर जैनियों के लिए तो यह एक बड़ा तीर्थ भी है। यहां उस सम्प्रदाय की ओर से एक आवासीय विद्यालय भी संचालित किया जा रहा है। कला प्रेमियों के ठहरने के लिए इसी सचिया माता अथवा जैन मंदिर में बेहद साफ-सुथरी-सी धर्मशाला उपलब्ध है। यहां कतिपय विशिष्ट अवसरों जैसे नवरात्रि या किसी जैनपर्व आदि को छोड़ कर शायद ही कभी भीड़ रहती है।

Created by Bhartesh Mishra

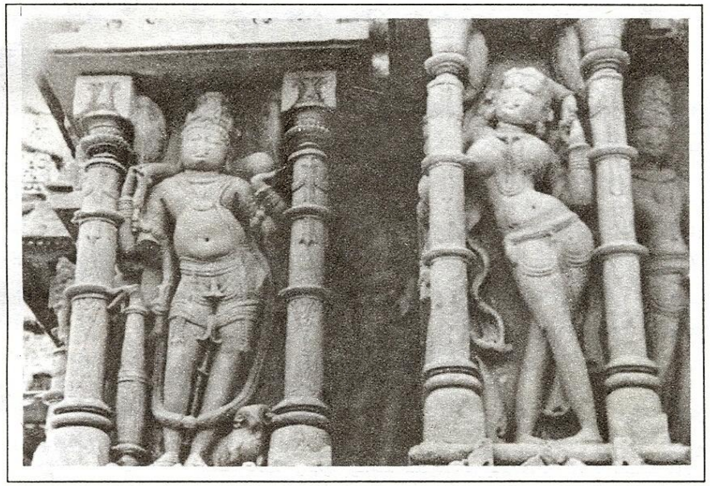

ओसिया की मूर्तियां

यहां के ये सारें मंदिर सूबसूरत नन्हें-से रेलवे स्टेशन से करीब एक डेढ़ कि.मी. पर स्थित हैं। यह सभी मंदिर 8वीं से 12वी सदी में गुर्जर-प्रतिहार वंश के राजाओं द्वारा बनवाये गये थे। गुर्जर-प्रतिहार-कला के कतिपय श्रेष्ठतम नमूने हमें यहां देखने को मिल जाते है। यहां पर जितने मंदिर हैं उनमें से अधिकतर खजुराहों के मंदिरों की तरह ऊंचे चबूतरों पर बने हैं। हालांकि विशालता और भव्यता में ये उस कोटि के नहीं ठहरते, फिर भी कला का पैनापन यहां पर हर ज़र्रे में मौजूद है।

यह कला मुख्यतया विभिन्न देवी-देवताओं के संवेदनशील व कल्पना-प्रवण प्रस्तर उत्कीर्णन के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। यहां हमें विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, लक्ष्मी, महिषासुरमर्दिनी, चामुण्डा, रेवन्त, दिक्पाल, जैनाचार्यों आदि की खूबसूरत प्रतिमाएं देखने को मिलती हैं। विष्णु को तो उनके कई अवतारों एवं रूपों, यथा-वराह, नरसिंह, त्रिविक्रम, बलराम, कठरारूढ़, हयग्रीव, लक्ष्मी नारायण, योगनारायण, शेषशायी के माध्यम से दर्शाया गया है। विष्णु के एक अवतार के रूप में सिंहासनारूढ़ बुद्ध की भी एक ध्यानास्थ प्रतिमा यहां के एक हरिहर मंदिर में उपलब्ध है। यह ओसिया में विष्णु के बुद्धरूप की अकेली प्रतिमा है। नौवीं शताब्दी तक बुद्ध हिन्दू देवी-देवताओं

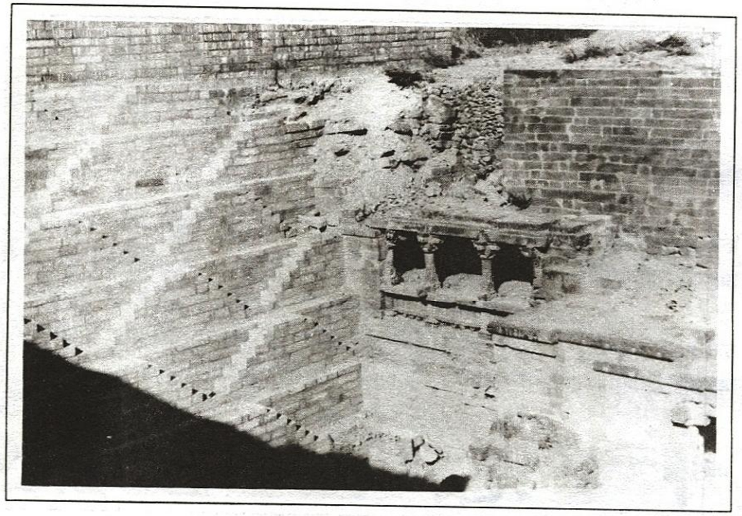

ओसिया की बावड़ी

की जमात में शामिल हो चुके थे, यह उस तथ्य की ओर इशारा करता है। कृष्णजन्म तथा उनकी लीलाओं यथा-पूतनावध, कुवलयपीड़वध, शकटभंग, अरिष्टासुरवध, कलिय-मर्दन, गोवर्धनधारी से संबंधित मूर्तियां भी यहां उत्कीर्ण हैं। इसी प्रकार सचियामाता मंदिर की छत पर रामायण के भी कुछ दृश्य देखे जा सकते हैं। शिव के विभिन्न रूपों यथा-शिव, नटराज एवं समन्वित रूपों जैसे-हरगौरी, अर्धनारीश्वर, हरिहर, हिरण्यगर्भ के भी यहां अंकन देखने को मिलते हैं। शिव-परिवार के एक अन्य सदस्य गणेश की गणपति-अभिषेक की दो बेहद महत्वपूर्ण प्रतिमाएं यहां उत्कीर्ण हैं। वस्तुत: समूचे उत्तर भारत में कहीं भी ऐसी प्रतिमा देखने में नहीं आती। ओसिया की कतिपयदुर्लभ प्रतिमाओं को उदयपुर एवं मंदौर के संग्रहालय में भी देखा जा सकता है।

पूरे शहर में सचिया माता का मन्दिर सबसे अधिक ऊंचाई पर बना है। कस्बे के किसी भी कोने से इसके शिखर पर लहराती लाल पताका नीले आसमान की पृष्ठभूमि में हमारा ध्यान अपनी ओर सबसे पहले खींचती है। इस मन्दिर की गणना जीवित मन्दिर में की जा सकती है। अब इसके गर्भगृह में महिषासुरमर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा रखी हुई है। कहा जाता है कि पहले वहां क्षेमंकरी की प्रतिमा रखी हुई थी जिसे बाद में हटा कर उसी मन्दिर के पीछे एक आले में

Created by Bhartesh Mishra

प्रतिस्थापित कर दिया गया है। इसी मन्दिर में चेचक की देवी शीतला की भी एक दुर्लभ प्रतिमा है जो सूप हाथ में लिये अपने वाहन गधे पर आरूढ़ है।

इन विभिन्न हिन्दू तथा जैन देवी-देवताओं की प्रतिमा के अलावा भी यहां कई ऐसी उत्कृष्ट प्रतिमाएं हैं जो सामान्य जन की जिन्दगी के विभिन्न दृश्य उपस्थित करती हैं। वेशभूषा, अलंकार, केश-सज्जा आदि की दृष्टि से अध्ययन के लिए ये प्रतिमाएं बढ़िया सामग्री बन सकती हैं।

उपर्युक्त सारी प्रतिमाएं यहां शेष बच रहे 16 मन्दिरों में उत्कीर्ण की गई हैं। इन सोलह हिन्दू तथा जैन मन्दिरों में से 11 मन्दिर शहर के पूर्वी भाग में स्थित हैं जबकि पांच पश्चिमी भाग में। पूर्वी में तीन हरिहर, दो विष्णु, एक शिव, एक सचिया माता तथा चार छोटे-छोटे मन्दिर (ये सभी 8वीं शती की रचनाएं) हैं, जबकि पश्चिमी भाग में एक सूर्य (9वीं शती), एक शिव, एक पिपला देवी (10वीं शती), एक जैन मन्दिर (783 ई.) तथा एक सूर्य मन्दिर (नं. 2) स्थित है।

लगभग आठवीं शताब्दी कीं ही एक बेहद खूबसूरत बावड़ी का उल्लेख किये बिना ओसिया का वर्णन अधूरा रहेगा। इसमें सदृश ज्यामितीय कोणों पर एक-दूसरे को काटती सीढ़ियां स्नान करने वालों को मनमोहक अंदाज में बावड़ी के अंदर तक ले जाती हैं। बावड़ी के एक ओर उसकी गहराई का लाभ उठा कर तीन मंजिलों वाला पूजा-अर्चन तथा आमोद कक्ष बनाया गया है। इन कक्षों की दीवारों एवं खंभों पर न सिर्फ कलात्मक डिजाईन अंकित हैं वरन् प्रेम श्रृंगार में पगे, आमोद-प्रमोद में आमगन पुरुष-स्त्री युगलकर भी सजीव अंकन किया गया है।

दरअसल जल, नदी, बावड़ी और उसके साथ जुड़े स्नान का महत्व भारतीय संस्कृति में बहुत पुराना रहा है। मोहनजोदड़ो के पुष्कर (ग्रेट बाथ) से लेकर आज तक यह प्रथा अक्षुण्ण चली आ रही है। नहाने की एक साधारण-सी क्रिया धार्मिक, कलात्मक या विलासात्मक अनुष्ठान की ऊंचाई तक पहुंचा दी गई थी, इसके हमें यहां दर्शन होते हैं। स्नान के कृत्य को एक बेहद सुखद अनुभव में परिवर्तित किया जा सकता है, इसका अहसास हमें यहां होता है। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आंध्र आदि प्रदेशों में हमें कई ऐसी बावड़ियां नजर आती हैं। स्वयं दिल्ली में चंद ऐसी बावड़ियां (जैसे उग्रसेन की बावड़ी) मौजूद हैं।

ओसिया का यह समस्त कलात्मक वैभव एक लम्बे समय तक विस्मृति की गर्भ में खोया रहा। यहां के मंदिरों की कलात्मकता पर पहली बार किंचित् विस्तार के साथ प्रकाश डालने का प्रयास किया था डॉ. डी आर भंडारकर ने। उन्होंने भारतीय पुरात्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट (1908-1909) में इस मन्दिर के पुरातत्वीय महत्व पर प्रकाश डाला था। पर्सी ब्राउन ने यहां के मन्दिरों के स्थापत्य की व्याख्या की थी। इसके अलावा तिपय् कलाप्रेमियों यथा श्रीमती पुपुल जयकर ने भी "**मार्ग**" (संख्या-12, 1959) में इन मन्दिरों के कलात्मक सौंदर्य को उद्घाटित

करते हुए लेख लिखे थे। अब तो इस पर शोध ग्रंथ तक प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी आज भी इन मन्दिरों के बारे में बहुत कुछ ऐसा है जिसे कहा जाना शेष है। पर्सी ब्राउन के शब्दों का सहारा ले तो आत्मा (रिपरिट) यहाँ मौजूद है पर उसकी विशेष व्याख्या की जानी शेष है।

शहर और इसके आस-पास का पूरा इलाका रेतीला है। पुराग्रंथों में जैसा कि वर्णन है उसके आधार पर बिना हिचक यह माना ज़ा सकता है कि यहाँ रेत के आंचल में इतिहास के कई कलात्मक पन्ने अभी भी दबे पड़े हैं। जरूरत है सिर्फ इतिहास के रोमांस में डूबे कुछेक खोजकर्ताओं के लगन की। ओसिया कस्बे के लोग कहते भी हैं कि किसी तेज आंधी के बाद उन्हें रेत में दबे कई खंडहर नजर आते हैं जो हल्की-सी झलक दिखा कर अगली आंधी में फिर उसी रेत के आंचल में छिप जाते हैं। है न रेत के आंचल में यह कला का रोमांस ! और प्रतीक्षा है उसे अपने प्रेमियों की।

****

Created by Bhartesh Mishra

वैदिक काल की सरस्वती नदी, जो लुप्त हो गई

डॉ० परमानन्द पांचाल

प्राचीन भारतीय वाङ्गमय में भारत की पवित्र नदियों का प्रचुर उल्लेख मिलता है। भारतीय संस्कृति में हिमालय की पर्वतमालाओं तथा गंगा, यमुना, सरस्वती तथा सिंधु आदि नदियों को इतनी गरिमा प्राप्त है कि किसी भी शुभ कार्य का प्रारंम्भ करते समय भी इनका स्मरण किया जाता है। प्रात: स्नान करता हुआ एक भक्त अपने शरीर पर जल छिड़कते हुए भारत की प्राय: सभी पवित्र नदियों से स्नान करने का महात्म्य प्राप्त करने की कामना इस प्रकार करता है।

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।

नर्मदे सिंधु कावेरि जले स्मिन सन्निधि कुरु॥

यहां वर्णित नदियों में से आज गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सिंधु तथा कावेरी नदियां तो मौजूद हैं, किन्तु सरस्वती का आज कहीं भी अस्तित्व शेष नहीं हैं। जिस विशाल सरस्वती नदी का ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता हैं, वह कहाँ लुप्त हो गई ? कहा जाता है कि ऋग्वेद की रचना सरस्वती और उसकी सहायक नदी दृशद्वती नदी के क्षेत्र में ही थी। ऋग्वेद में सरस्वती नदी की यशगाथा में 89 ऋचाएँ मिलती हैं। इसके 10/75 सूक्त, जिसे 'नदी सूक्त' कहा गया है, में कई नदियों का उल्लेख एक साथ है। उक्त सूक्त के पंचम मंत्र में सिन्धु की पूरबी नदियों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं:—

इममें गंगे यमुने सरस्वती।
शुतुद्रि स्तोर्म सचता परुष्णया॥
असिकन्या मरुद्वृधे वितस्तयाड।
जिर्कीय श्रृणुह्या सुषोमया॥

यहां गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री (सतलुज), परुषणी (रावी),असिक्नी (चेनाव),मरूद्वृधा (चेनाव की एक सहायक नदी),वितस्ता, (झेलम), आजीर्कीया, (व्यास)तथा सुषोमा का उल्लेख है।

ऋग्वेद में ''सप्तसिन्धव'' शब्द अनेक बार उल्लिखित हुआ है, परन्तु इसमें निहित ये सात नदियां कौन सी हैं ? इस पर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आम धारणा यही है कि सात नदियाँ शतुद्री, विपाशा परुष्णी, वितस्ता असिक्नी, सिन्धु तथा सरस्वती ही हो सकती हैं। सरस्वती के सम्बन्ध में मैक्समूलर के इस कथन ने कि सरस्वती अफगानिस्तान की ''हरहती'' नदी है, एक नई भ्रांति उत्पन्न कर दी। उनका मत है कि फारसी और पुश्तो में ''स'' का ''ह'' हो जाता है, इसलिए सरस्वती का ''हरहती'' हो गया होगा। किन्तु यह सही नहीं है क्योंकि ऋग्वेद में उल्लिखित सरस्वती का उद्गम हिमालय पर्वत में है, जो अरब सागर में कच्छ की खाड़ी में गिरती थी। आज यह नदी लुप्त हो चुकी है।

वैदिक काल की सरस्वती

ऋग्वेद काल में सरस्वती नदी सिन्धु नदी से भी विशाल थी। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान केन्द्र, अहमदाबाद के अन्तरिक्ष अनुप्रयोग केन्द्र द्वारा सरस्वती तथा अन्य नदियों द्वारा मार्ग परिवर्तन

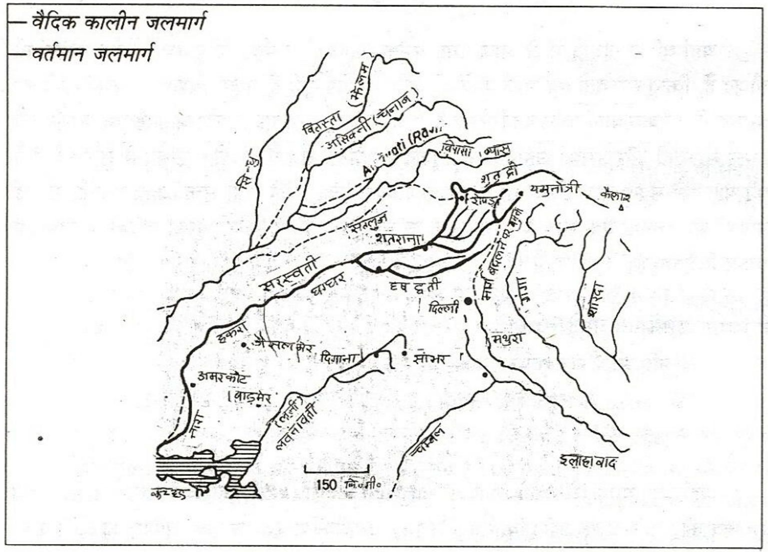

वैदिक काल की महान नदी सरस्वती दो नदियों शुतुद्री (सतलुज) और जिसे आज 'यमुना कहा जाता है दोनों के मेल से बनी थी। अरावली उस समय ऊंचा पर्वत न होकर एक वृक्षच्छादित क्षेत्र मात्र था जिसका ढलान दक्षिण-पश्चिम की ओर था।

Created by Bhartesh Mishra

के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी अध्ययन किए गए हैं। इनसे पता चलता है कि अन्य कई नदियाँ भी सरस्वती में मिलती थीं वह ''नारा'' से होती हुई कच्छ की खाड़ी में समुद्र में गिरती थी।

यह विशाल नदी हिमालय से निकल कर उत्तरापथ में हरियाणा, मारवाड़ और बहावलपुर होती हुई सीधे कच्छ की खाड़ी में समुद्र में जा मिलती थी। यह नदी पूर्व-महाभारत वैदिक काल की एक गौरवपूर्ण नदी थी। गंगा और यमुना का उल्लेख ऋग्वेद में अपेक्षाकृत बहुत ही कम है, किन्तु सरस्वती की प्रशंसा करते हुए ऋषि लोग कभी नहीं अघाते थे। इसी के किनारे वे सामगायन करते हुए यज्ञ यागो के अनुष्ठानों में दत्त्वचित रहते थे। इसके किनारे पर 1200 से अधिक बस्तियाँ और ऋषि-आश्रम तथा अनेक नगर बसे थे, जो हड़प्पा संस्कृति (आज से 4000 से 4100 वर्ष पूर्व) के थे। वह नदी कहां गई ? आज हरियाणा में घग्घर तथा राजस्थान में मारवाड़, पाकिस्तान में बहाबलपुर तथा सिन्ध में नारा के रेत से भरे सूखे नालों के रूप में उसके अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इन सूखे नालों में अब बरसात में बाढ़ का पानी ही बहता है। सरस्वती नदी पश्चिमी गढ़वाल में हिमालय पर्वत के बन्दरपूंछ-से निकलती थी और आदि बद्री, भवानीपुर तथा बालछापुर की पहाड़ी तराई से दक्षिण की ओर बहती हुई शताद्रु (सतुलज) से मिलती थी। सतलुज तिब्बत के दक्षिण पश्चिम में कैलाश पर्वत से निकलती थी। प्राचीन सरस्वती आज की यमुना और सतलुज के संगम से बनती थी। उस काल में यमुना उत्तर से पश्चिम की ओर बहती थी और गंगा में नहीं मिलती थी। यमुना और सतलुज का यह संगम पटियाला के 25 किलोमीटर दक्षिण में शतराना के स्थान पर होता था। आगे इसका विस्तार 6 से 8 किलोमीटर तक हो जाता था, जिसके अवशेष आज घग्घर के रूप में दिखाई देते हैं। घग्घर को मारवाड़ तथा पाकिस्तान के बहाबलपुर में ''हकरा'' के नाम से जाना जाता है और कच्छ की खाड़ी में गिरने से पूर्व सिन्ध में इसे ''नारा'' कहा जाता है। दृषद्वती जो आजकल सूखे नाले के रूप में चितंग या चौतांग के नाम से जानी जाती है, सिरसे के पास सरस्वती नदी में मिलती थी। सरस्वती और दृषद्वती के बीच ही कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत का इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ था। इसी प्रदेश को ''ब्रह्मावर्त'' की पुण्य भूमि माना जाता है। लगभग 40,000 वर्ष पूर्व थार के रेगिस्तान सहित पश्चिमी राजस्थान में पानी का कोई अभाव नहीं था। इसकी पुष्टि बालू के टिब्बों के गरम चमकीले रेतों और लुनकरन सार तथा डीडबाना झीलों की कीचड़ों के नीचे दबे अनाज की बालों के अवशेषों से हो जाती है। सरस्वती और उसकी सहायक नदियों का जल राजस्थान के भाग में बहुतायत से उपलब्ध था। दक्षिण भाग में लवनावती (लनी) के वर्षभर बहने वाले स्त्रोतों का जाल बिछा था, जो सरस्वती, दृषद्वती तथा लूनी का एक उपजाऊ क्षेत्र रहा था।

श्री वी० एन० मिश्र के अनुसार यहीं पाषाण युग के लोगों ने बस्तियां बसाई थी, जो उनकी संस्कृतियों का एक बड़ा केन्द्र रहा था। आज से 10,000 से 3500 वर्ष पूर्व यहां की

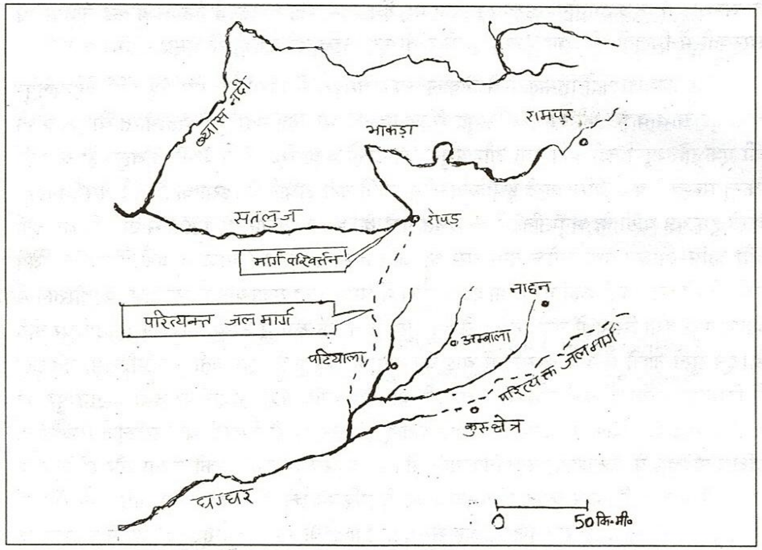

जब अरावली पर्वत ऊंचा उठ गया और उसके पश्चिम की भूमि नीचे को धंस गई तो सतलुज ने अकस्मात अपना मार्ग बदल लिया और रोपड़ के स्थान से उल्टी दिशा की ओर मुड़ गई।

जलवायु नम थी और वर्षा भी अब से तीन गुनी मात्रा में होती थी। लोगों ने आज से 8,000 वर्ष पूर्व सांभर झील के क्षेत्र में तथा लुनकारनसर के पास खेती करना आरंभ कर दिया था। हड़प्पन संस्कृति की 1,600 बस्तियों में से 75 प्रतिशत आवासीय बस्तियों के अवशेष घग्घर घाटी में बनावली और कालिबंगन तथा हकरा घाटी में अलीमुराद तथा कोट में प्राप्त होते हैं। आज से 4,600-4500 से 4,2000 वर्ष पूर्व की हड़प्पन सभ्यता लगभग 13 लाख किलोमीटर क्षेत्र में फैली हुई थी। इस सभ्यता के पुराने अवशेष सरस्वती के निचले भाग में तथा बाद के अवशेष शिवालिक की पहाड़ियों तक मिलते हैं। लगभग 3,700 वर्ष पूर्व सरस्वती को उसकी सहायक नदियों से जल मिलने में कमी आने लगी। ऐसा क्यों हुआ ? इसका एक कारण जलवायु में भारी परिवर्तन हो सकता है, क्योंकि लगभग 3,700 वर्ष पूर्व के आस पास इन झीलों के पानी का खारा हो जाना इसका संकेत है। दूसरा कारण सरस्वती के जल स्त्रोंतों का मार्ग परिर्वतन है। जिसे डा०के० एस० बाल्दीय द्वारा ''पाइरेसी'' अर्थात् जल अपहरण या जल चोरी कहा गया है। यह चोरी कैसे हुई और किसने की ?

Created by Bhartesh Mishra

गंगा ने सरस्वती जल का अधिग्रहण कर लिया

भौगोलिक परिवर्तनों के कारण भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तरी भाग में कई विर्वतनिकी (टेक्टोनिक) परिवर्तन हुए और अरावली पर्वत धीरे-धीरे ऊपर उठना आरंम्भ हो गया, जिससे सरस्वती के मार्ग में भी परिवर्तन होना आरंम्भ हो गया। अब इसके बहाव का रूख पूर्व की ओर हो गया। सम्भवत: चौतांग नाला सरस्वती द्वारा मार्ग परिवर्तन का ही सूचक है। अरावली की ऊंचाई में वृद्धि के कारण चम्बल की एक शाखा ने अपना मार्ग उत्तर दिशा से दक्षिण की ओर बहते हुए गहरा कर दिया। इसका प्रभाव सरस्वती पर भी पड़ा। वर्षा ऋतु में सरस्वती की बाढ़ का पानी इस नए चैनल (जिसे बाद में ''यमुना'' कहा जाने लगा)की ओर बह निकला, जिसका परिणाम यह हुआ कि सरस्वती का जल गंगा की दक्षिणी सहायक नदी चम्बल की ओर बहने लगा। जिसे चम्बल ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार सरस्वती का यह जल गंगा को प्राप्त हो गया।

डा० रा० अ० चान्सरकर ने भी भारत की दृश्य भूमि का भू-वैज्ञानिक आधार नाम पुस्तक में इस मत का समर्थन किया है।

इस प्रकार जल की कमी के कारण यह सरस्वती नदी कालान्तर में मरुभूमि में पूर्णत: सूख गई। पटियाला के पास ''सुरसती'' नाम से जो एक छोटी सी नदी है, कहा जाता है कि यही सरस्वती का अवशेष है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार कुछ लोगों का मानना है कि अदृश्य रूप से सरस्वती नदी प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम स्थल पर आकार मिल गई है। इसी कारण से प्रयाग को **त्रिवेणी** का संगम कहा जाता है। किन्तु न तो वेद में इसकी कहीं कोई पुष्टि मिलती है और न कोई प्रत्यक्ष प्रमाण ही इसका साक्षी है।

ऋग्वेद काल में सरस्वती पश्चिम समुद्र तक निरन्तर बहती थी। ब्राह्मण युग में इसका सूखना आरभ हुआ। ताण्डय ब्राह्मण (25/10/16) में सरस्वती के लुप्त होने तथा जैमिनीय ब्राह्मण (4/26/12) में पुन: निकलने के स्थान का उल्लेख है सरस्वती के लुप्त होने के स्थान का नाम ''विनशन'' है, जो आधुनिक सिरसा के समीप है।

सरस्वती के सूख जाने पर इसके तट पर बसे लोग अन्यत्र चले गए। कहा जाता है कि ''सारस्वत ब्राह्मणों'' के पूर्वज कभी सरस्वती नदी के तट पर ही रहते थे। मार्कंडेय और बारह पुराणों से पता चलता है कि सरस्वती महाभारत काल में सूखने लगी थी महाभारत के वनपर्व तथा सिद्धान्त शिरोमणि में भी सरस्वती के लुप्त होने का उल्लेख है।

भू उपग्रह से लिए गए चित्रों से पता चलता है कि यमुना नदी ने 10 से 40 किलोमीटर तक पूर्व की ओर अपना मार्ग बदला है। इस बीच हुए परिवर्तनों के कारण ही सतलुज पश्चिम की ओर अपना मार्ग बदला और वह सिन्धु नदी में जा मिली। इस प्रकार सरस्वती जल के अभाव में सूखती चली गई।

भू-उपग्रह द्वारा हरियाणा, पंजाब प्रदेश का लिया गया एक चित्र, जिसमें बड़ी नदियों के चौड़े जलमार्गों को दिखाया गया है, जो अब या तो सूख गए हैं या उनमें थोड़ा बहुत जल है, और अब वे पूर्व की ओर या पश्चिम दिशा में बहने लगे हैं।

श्री के०एस० बलदीय के अनुसार 1245 ई० तक हिमालय से निकलने वाली इस नदी का कुछ पानी हकरा नारा जल-वाहिका में बहता रहा था। यही वह समय है जब इस मरुभूमि से भारी संख्या में लोगों का प्रब्रजन हुआ था। सतलुज से जो थोड़ा बहुत जल कभी-कभी मिलता रहता था, वह भी 1593 ई० के बाद सतलुज द्वारा पूर्णत: अपना मार्ग बदल लेने के बाद, बिल्कुल बंद हो गया।

नवीनतम खोज

हाल में ही, भाभा एटोमिक रिसर्च सेंटर द्वारा की गई एक खोज के अनुसार सरस्वती नदी के मार्ग का पता चल गया है। जिससे स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि सरस्वती नदी कभी राजस्थान से होकर गुजरती थी, इसकी पुष्टि भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के आइसोटोप विभाग द्वारा जल-विज्ञान संबंधी विषय पर आक्सीजन, हाइड्रोजन और कार्बन के आईसोटोपो का अध्ययन करते समय राजस्थान में सरस्वती के प्राचीन मार्ग का पता चला है। विभाग के अध्यक्ष डॉ० एस० एन०

Created by Bhartesh Mishra

राव का कहना है कि आज भी उस रेगिस्तानी इलाके में 50-60 मीटर गहराई में भूमिजल विद्यमान है। इससे इस बात की भलीभांति पुष्टि हो जाती है कि कभी सरस्वती नदी यहां बहती थी। हिमालय के बर्फ से निकलने वाली दो नदियों-अर्थात् यमुना और सतलुज से मिलने वाले जल से वंचित होकर सरस्वती एक नाला मात्र रह गई, जिसमें शिवालिक से निकलने वाले वाह घग्घर डांगरी, मार्कण्डेय, सरसुती आदि छोटे-छोटे जल स्त्रोतों का कुछ जल ही बहता है। इतनी विशाल सरस्वती का अस्तित्व अब कहीं शेष नहीं है। यदि कुछ है, तो बस राजस्थान की मरूभूमि में आकर विलीन हो गए वे सूखे जल स्त्रोत हैं। जो उस विशाल गौरवमयी सरस्वती और मानव इतिहास की मूकगाथा सुनाने से लिए शेष हैं।

सरस्वती की मुख्य संगामी नदी जिसे आजकल यमुना की एक शाखा टोन्स के नाम से जाना जाता है, हर-की दून गलेसियर से निकलती है।

उड़िया लोक साहित्य

डॉ. गरिमा श्रीवास्तव

उड़िया भाषा का उद्भव पूर्वमागधी अपभ्रंश से हुआ और इसका विकास 1000 ई. से माना जाता है। उर्जाम शिलालेख प्राचीन उड़िया भाषा का प्रमाण है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संगृहीत चर्यागीतिका की भाषा प्राचीन उड़िया भाषा का प्रथम उपलब्ध उदाहरण है। 1249 ई. में भुवनेश्वर के द्विभाषिक शिलालेखों में उड़िया भाषा की उत्तरोत्तर समृद्धि और विकास के संकेत प्राप्त होते हैं। पंद्रहवीं शती में सालारादास कृत **महाभारत** में हमें उड़िया भाषा के पूर्ण विकास का प्रमाण मिलता है।

अभी तक प्राप्त उड़िया लोकसाहित्य को सात वर्गों के अंतर्गत विभक्त किया जा सकता है—

(क) गीत (ख) पहेलियां (ग) मुहावरे (घ) लोकोक्ति (ङ) ढंग (च) छटा (छ) मंत्र (ज) लोककथा (झ) लोकनाटक

उड़िया लोकगीत विविध रूपों में उपलब्ध हैं—गाथा, गीति, श्रमदीति, क्रीड़ागीति, बालगीत आदि। सामाजिक रीतिरिवाजों, व्रत, उपवास आदि से संबंद्ध कथाएं गाथा कही जाती हैं। पूजा, अर्चना के विधि-विधान किसी विशिष्ट देवी-देवता की उपासना से मनोकामना की पूर्ति या देवी-देवता की निंदा के परिणामस्वरूप जीवन में दुःखों का आगमन अंततः देवता संबंधी भ्रम का निवारण और पुनः स्तुति द्वारा सुखी जीवन की प्राप्ति इन गाथाओं का कथ्य है। इन गाथाओं का उद्देश्य जनता में धार्मिक चेतना का प्रसार है, कुछ गाथाएं सामाजिक विषय वस्तु पर भी आधारित रहीं-इनमें संतान की मृत्यु, विवाहित द्वारा आत्महत्या, सास द्वारा नववधू को यंत्रणा देना, दहेज प्रताड़ना आदि अनेक विषय रहे। **नाऊ चरित** में पत्नी का अनुसरण करने वाले पति की दुखद परिणति का चित्रण किया गया है। इस गाथा का उद्देश्य संयुक्त परिवार की व्यवस्था की श्रेष्ठता को स्थापित करना है। सती गाथा पति के साथ सती हो जाने की प्रथा पर आधारित मार्मिक गाथा है। ऐतिहासिक गाथाओं के अन्तर्गत **रानी का शोक** एक महत्वपूर्ण लोकगाथा है। इसमें पुरी के राजा दिव्यसिंघ देव की रानी के शोक का वर्णन है—जिसके पति पर गलत आरोप लगाकर अंग्रेजों द्वारा काले पानी की सजा दी गई। मंदिर निर्माण गाथा में पुरी के मंदिर के निर्माण संबंधी किंवदन्ती मिलती है।

Created by Bhartesh Mishra

गीति

उड़िया समाज में गीतों के अनेक प्रकार हैं। **विदागीत** पतिगृह जाते हुए कन्या के दुःख और आवेग का गीतिमय रूप है। विदाबेला में कन्या अपने आत्मीय जनों के पांव पर गिरकर अत्यंत करुण स्वर में गीतिमय विलाप करती है। प्रौढ़ महिलाओं से सुनकर, अल्प वयस्काएं इन गीतों को स्मरण कर लेती हैं। करुण रस के साथ अनेक उपमाएं और रूपक इन गीतों के आकर्षण को बढ़ाते हैं। इन गीतों में नारी उत्पीड़न, नारी की असहायता के मार्मिक चित्र मिलते हैं।

श्रमलाघव पर आधारित गीत सभी कृषकसमाजों में प्रचलित हैं। कृषि, पशुपालन, जल-स्थल, पथ की यात्रा, कला-कर्म, यंत्र संचालन के अवसरों पर ये गीत सुने जा सकते हैं। उड़िया श्रमगीतियों में फसलों की जुताई और बुवाई के समय गाए जाने वाले गीत विशिष्ट स्थान रखते हैं। देवी-देवता, शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण का लौकिकीकरण इन गीतों का वैशिष्ट्य है। इन गीतों में राम हलवाहे के रूप में, लक्ष्मण बुआई के लिए जमीन समतल करते हुए और सीता बुआई करने वाली कृषक स्त्री के रूप में उपस्थित है। इसी प्रकार शिव खेत जोतते हैं और पार्वती उनका भोजन पहुंचने में जब देर हो जाती है, तो पार्वती, जो सिर पर भोजन उठा कर शिव के पास जाती है—उसके केश पकड़ कर शिव उन्हें प्रताड़ित भी करते हैं। ये गीत हलवाहों की संपूर्ण जीवन शैली और चिंतनधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

लोककला से संबद्ध गीतों में **गोदना** गुदवाने की प्रक्रिया से संबंधित गीत मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त पुरी की रथ यात्रा के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों को **दाहुक गीत,** कहा जाता है। दाहुक गीतों के गायक पवित्र आचरण करते हैं, और पवित्र मन से इन गीतों को गाते हैं।

शारीरिक श्रम प्रधान गीत **क्रीड़ागीत** के अंतर्गत आते हैं। डॉ. कुंजबिहारी दास ने बागड़ी (कबड्डी), चका-चका भंवरी, बहु चोरी (दुल्हन की चोरी), लुच काली (छुपन छपैया), पूची खेल आदि खेलों से संबंधित गीतों को संकलित एवं समीक्षित किया है।

झूला गीत

प्रश्नोत्तर शैली के गीत हैं जिन्हें लड़के-लड़कियां झूला-झूलते समय गाते हैं। सामान्यत: तीन पंक्तियों वाले इन तीनों की प्रथम पंक्ति सिर्फ लय के काम आती है। झूले के आलोड़न के साथ-साथ इन गीतों को लय उठती-गिरती रहती है। इनकी विषय-वस्तु प्रेम-विरह, पुराण, परिवार आदि कुछ भी हो सकती है—जैसे

गोड़ो मुद्दि अगुआली
कोथाय दी कथा कहियान्ति
संगे-गंगे जगुआली

अर्थात् पैरों का बिछुआ उंगली के अगले भाग में है। मैं तुमसे कुछ बात कह सकता था, लेकिन वहां हमेशा चौकीदार रहता है। ये गीत **रजपर्व** के अवसर पर गाए जाते हैं।

शिशुगीत बच्चों को लोरियों के रूप में सुनाए जाते हैं तथा बच्चों द्वारा भी गाए जाते हैं। ये गीत छोटे तथा विविध विषयी होते हैं।

बारहमासा गीत वर्ष के बारह महीनों में प्रकृति के निरंतर परिवर्तन तथा मानव-हृदय पर उसका प्रभाव का वर्णन इन गीतों में किया जाता है। डॉ. कुंजबिहारी दास ने बारहमासा गीतों को पांच भागों में विभक्त किया है—(क) पुत्र के विरह में माता का दुःख (ख) स्त्री वियोग गीत (ग) स्त्री-पुरुष दोनों के विरह के गीत (घ) पद्मतुला बारहमासा (ङ) खाद्य बारहमासा—इन सभी बारहमासा गीतों में विरह भाव की ही प्रधानता है।

पहेली गीत : प्राचीन काल में कृषि कार्य, विवाह संस्कार, अंत्येष्टि संस्कारों के अवसर पर पहेलियां कहे जाने की प्रथा थी। उसी परंपरा के पहेली गीत छोटे-छोटे होते हैं। कभी-कभी इनमें अभूतपूर्व काल्पनिकता के दर्शन होते हैं जैसे श्यामसुंदर के पास चार चौगनी आंखें और पंद्रह जीभें—इसका उत्तर है—नागफनी। नागफनी के गुल्म की तुलना कृष्ण से की जाती है।

कहावत गीति

कहावत गीतियां परंपरागत अनुभवों पर आधारित होती हैं जो रूढ़ होकर उपदेश बन गई हैं। वे कहावतें जो कहानी पर आधारित हैं, उन्हें प्रवाद कहा जाता है। प्रवाद प्रवचन लोक समाज के ज्ञान का भंडार है। फिर भी इनमें उच्च नैतिक आदर्शों के प्रचार का अभाव है। ये अधिकतर दैनन्दिन जीवन की समस्याओं से संबंधित हैं। ये आकार में बहुत छोटी परन्तु अत्यंत प्रभावशाली होती हैं। विरोधाभास, अनुप्रास, लयबद्धता, पुनरावृत्ति आदि इसके शैलीगत वैशिष्ट्य् हैं। ओड़िया प्रवचनों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। ईश्वर विश्वास, जीवन दर्शन, सामाजिक रीति-गीति, पारिवारिक संबंध, खेल प्रवृत्ति, उचित-अनुचित व्यवहार, कृषि-वाणिज्य, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि नाना विषयों पर प्रवाद-प्रवचन प्रचलित हैं। कृषि-प्रधान राज्य होने के कारण यहां कृषि विषयक प्रवचन ही सर्वाधिक हैं। मौसम-भविष्यवाणी, पशु-लक्षण, कृषि योग्य भूमि, जुताई, बुवाई, कटाई आदि नाना विषयों के प्रवचनों को किसानों द्वारा अनुकृत किया जाता है।

लोकोक्ति गीत

सामाजिक जीवन में लोकोक्तियों की भूमिका महत्वपूर्ण है। इनका उद्देश्य व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के गुण-दोषों पर टिप्पणी करना और सुधार करना होता है। मुहावरे जहां उपदेशात्मक होते हैं वहीं ये लोकोक्तियां टिप्पणी से परिपूर्ण होती हैं। उदाहरणार्थ :

(1) घर में नींबू-नमक नहीं और सभा में विविध व्यंजनों की चर्चा करना।
(2) जिसको फीलपांव हो उसे दूसरे के बारे में कहने का क्या अधिकार है।

Created by Bhartesh Mishra

छटा गीत

वे गीत होते हैं, जिनमें व्यंग्य-विद्रूप नहीं होता। ये महिला-समाज में केवल हास्य और मनोरंजन के लिए गाए जाते हैं।

छिः छिः रे समधिन
धू धू रे समधिन

मैंने सूखी मछली और अरबी बनाई तुम्हें नहीं तो किसको दूंगी
मुझे बेटी के बदले बेटा मिला।

मंत्र गीति

उड़िया लोकमत में जादू-टोनों पर बहुत पहले से विश्वास किया जाता रहा है। भूत-पिशाच, विभिन्न अपदेवताओं के चंगुल से रक्षा करने, व्याधि मुक्त करने में, तंत्र शक्ति और असाध्य कार्य करने में, मंत्र सहायक होते हैं।

गुनिया अपनी सफलता के लिए विभिन्न देवी-देवताओं के नाम लेता है। कुछ रीति-रिवाज भी इससे संबंधित हैं। जैसे पश्चिमोन्मुख होकर मंत्रोच्चारण, शनिवार की संध्या को कार्यानुष्ठान करना और प्रक्रिया समाप्त होने तक सामने देखते हुए चलना-मुड़कर न देखना। इस प्रक्रिया के कारण जन साधारण में मंत्रों के प्रति असाधारण विश्वास है। यह विश्वास लोगों के मनोबल में वृद्धि करता है और कर्मसाधन में सहायक सिद्ध होता है। यह परम्परा गुरु-शिष्य के बीच चली आती है और समाज द्वारा कोई परिवर्तन नहीं आता, इसलिए कुछ विद्वान इसे लोक-साहित्य के अंतर्गत नहीं रखते।

लोक कथाएं

भारत में लोककथाओं की परंपरा बहुत पुरानी है। संयुक्त परिवारों में बड़े-बुजुर्गों द्वारा छोटे-छोटे बच्चों को कहानी सुनाना दिनचर्या का एक अंग है। इसके अतिरिक्त खाली समय में मनोरंजन, विश्रांति के रूप में, धार्मिक अनुष्ठानों के अंग के रूप में कहानियां कही जाती हैं। लोककथा के प्रारम्भ और अन्त में कथनी कही जाती है। स्टीथ थॉमसन ने लोक-कथाओं को दो भागों में बाटा है—(क) किंवदंती और अन्य विश्वास मूलक कथाएं (ख) कल्पना प्रधान कथाएं।

(क) के अंतर्गत स्थान विशेष के बारे में किंवदंती एवं विश्लेषणात्मक कथाएं आती हैं। दूसरे भाग में परी, दैत्य-दानव, भूत-प्रेत आदि अद्भूत लोक से संबंधित कहानियां आती हैं।

इसके अतिरिक्त जीव-जन्तु की कहानियां, ठगी की कहानियां, हास्य रस एवं अलौकिक कथाएं भी लोक में प्रचलित हैं।

उड़िया में इन सभी प्रकार की लोककथाएं मिलती हैं। ये विश्व की अन्य भाषाओं में प्रचलित लोककथाओं से प्रकार और अभिप्राय के स्तर पर समानता रखती हैं साथ ही मिथक और कथ्य की विशिष्ट शैली के कारण अपनी अलग पहचान रखती हैं। उड़िया समाज में प्रचलित एक किंवदंती के अनुसार बारह सौ शिल्पी मिलकर भी कोणार्क मंदिर के ऊपरी भाग को निर्मित नहीं कर पाए। अंततः एक बारह वर्षीय लड़के से, जो शिल्पी-पुत्र था, यह संभव हो पाया। लेकिन राजा द्वारा दण्ड दिए जाने के भय से वह लड़का मंदिर से कूदा और समुद्र में डूब कर मर गया।

जगन्नाथपुरी मंदिर के बारे में प्रचलित एक मिथक के अनुसार लकड़ी के एक लट्ठे को कोई भी बढ़ई नहीं काट पाया, जिससे जगन्नाथ की प्रतिमा गढ़ी जाती। अंततः स्वयं ब्रह्मा एक बूढ़े बढ़ई के रूप में अवतरित हुए। परंपरानुसार उन्हें 21 दिनों तक मंदिर से बाहर नहीं जाना था। लेकिन कुछ दिनों बाद जब मंदिर के भीतर से लकड़ी काटने की कोई भी आवाज नहीं सुनाई दी, तो रानी ने सोचा कि बढ़ई मर चुका है। रानी के बार-बार कहने पर राजा को मंदिर के द्वार खोलने पड़े। अंदर कोई बढ़ई न था, वह लुप्त हो गया था और प्रतिमा अधबन थी। आज भी जगन्नाथ के हाथ-पैर नहीं हैं।

ये कहानियां सर्वप्रचलित हैं। लोक कथाओं और मिथकों के अतिरिक्त हमें इन कहानियों में कुछ वैशिष्ट्य भी दिखाई देता है—चरित्रों के खान-पान, वेश-भूषा, चाल-चलन, मेला-उत्सव तथा अन्य सांस्कृतिक तत्व के आधार पर।

लोकनाटक

कथा एवं गीतों की तरह ही उड़िया में लोकनाटक भी प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों को चार भागों में बांटा जा सकता है (क) अभिनय प्रधान (ख) नृत्य प्रधान (ग) संगीत प्रधान (घ) वाद्य प्रधान।

अभिनय प्रधान नाटकों के अंतर्गत रामलीला, कृष्णलीला, भरतलीला, मुगलतामसा तथा कठपुतली नाटक उल्लेखनीय हैं। मुगलतामसा नाटक मुगलों का हास्य-व्यंग्य प्रधान चित्र प्रस्तुत करता है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही इन नाटकों में भाग लेते हैं। मूलतः भद्रक जिले में इसे मंचित किया जाता है।

कृष्ण की गोप लीला और कंस-वध पर आधारित पश्चिमी उड़ीसा में एक लोकनाटक उल्लेखनीय है। इसमें बरगद और धेनुपालि को मथुरा पुरी और गोपपुर के रूप में क्रमशः कल्पित

Created by Bhartesh Mishra

किया गया है। इन दोनों गांवों के बीच बहने वाली जीरा नदी को यमुना नदी माना गया है। कृष्ण और बलराम को कुछलीलाओं का मंचन धेनुपालि में होता है और कंसवध को बरगद गांव में खेला जाता है। इस प्रकार मंच लगभग तीन कि.मी. के क्षेत्र में फैला रहता है। दक्षिण उड़ीसा में प्रचलित **प्रहलाद नाटक** में भी इसी प्रकार का मंच उपयोग में लाया जाता है। इन गांवों के विभिन्न दृश्य ही मंचीय पृष्ठभूमि का कार्य करते हैं।

नृत्याधृत नाटकों में छऊ,. दंडनाटक, करमानाटक, देसिया आदि उल्लेखनीय हैं। छऊ नृत्य एक युद्धक नृत्य है, जो मयूरभंज का वैशिष्ट्य है। इसकी कथावस्तु में वैविध्य होता है। शिकार, मछली पकड़ना, भालू नृत्य, शेर द्वारा जल पीना जैसे अनेक देवता और प्रकृति आदि विषयों का संयोजन **छऊ नृत्य** में होता है। सरकारी अनुदान के कारण इस नृत्य को पुनः जीवन मिला है। इसकी कथावस्तु को प्रोफेसर कुंवर ने तीन भागों में बांटा है (क) रामायण, महाभारत तथा पुराणों से ग्रहण की गई कथावस्तु जैसे तामुड़िया कृष्ण, गरुड़ वाहन, कैलाशपति, समुद्र मंथन, अहल्या उद्धार, पवनपुत्र हनुमान, नटराज एवं परशुराम (ख) डारण्य, प्रकृति एवं जीव-जंतु संबंधी जैसे मयूर नृत्य, तितली नृत्य, हरिणनृत्य, काल्पनिक विषय-वस्तु में समन्वित नृत्य जैसे मरुमाया, अकल सलामी अयमण्ड जुबली आदि। विभिन्न जातियों और वर्गों के लोग इन नृत्यों में भाग लेते हैं। इनमें अरण्य, ग्राम एवं नगर-संस्कृति का समन्वय देखने को मिलता है।

शैव धर्म पर आधारित दण्डनाटक को चैत्र पर्व के दौरान मंचित किया जाता है। इसमें जाति-धर्म के भेदभाव को भुलाकर लोग भाग लेते हैं। मान्यता मानने वाले लोगों को **भाक्ता** कहा जाता है। बारह अनुयायी, एक गायक, एक ढोलक बजाने वाला घर-घर घूमकर धार्मिक नृत्य करते हैं। इसके अतिरिक्त आग पर चलना, गर्म रेत पर लुढ़कना जैसी आत्मतान की क्रियाओं द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हैं। यह आयोजन चैत्र की 13वीं तिथि से 21वीं तिथि तक चलता है। इसका समापन संक्रांति के दिन होता है। नाटक के अंत में चढ़ैया (शिकारी) सोरा, कंध नाच के बाद रामायण और महाभारत के अंश मंचित होते हैं।

चैतीघोड़ा नाटक नृत्यप्रधान होता है। यह साधारणतः मछुआरों द्वारा खेला जाता है। सर्वप्रथम, एक पैरविहीन घोड़े का कंकाल निर्मित किया जाता है। फिर एक आदमी उस घोड़े के अंदर घुसकर स्वयं को कमर तक छुपा लेता है। ऐसा लगता है कि घोड़ा अपने सवार के साथ-साथ नृत्य कर रहा है। ढोलक एवं शहनाई से संगीत उत्पन्न किया जाता है। पुरुष हो या स्त्री का वेश धारण कर पुरुष के साथ नृत्य करता है। बीच-बीच में विदूषक दर्शकों का मनोरंजन करता है।

गीत प्रधान नाटकों में **पहला** एवं **दासकठिया** का नाम प्रमुख है। पहले **पहला** नाटक में सत्यनारायण की कथा प्रस्तुत की जाती थी, इसके **बैठकी पूजा** भी कहा जाता था। आधुनिक युग

में इसका विकास हुआ है। नृत्य और अभिनय समन्वित नाटक की इस विधा को **ठिया पाला** कहते हैं।

दो लकड़ियों से बने वाद्य यंत्र को **दस कठिया** कहते हैं जिसका वादन पुराण संबंधी गीतों के गान के साथ किया जाता है।

घणकोइला और **घुड़की** नाटक वाद्य पर आधारित होते हैं। **धणकोइला** नाटक के लिए नवनिर्मित मिट्टी का बर्तन, एक कटोरी एवं धनुष की आवश्यकता होती है। इस नाटक में धनुष का एक सिरा बर्तन में और दूसरा धरती पर टिका दिया जाता है। काजल की डिबिया के स्पर्श से एक अत्यंत सुन्दर ध्वनि निकलती है। धनुष एवं काजल की डिबिया से संबंध होने के कारण इसे **धणकोइला** वाद्य कहते हैं। इस वाद्य से देवी मंगला का गुणगान किया जाता है। प्रमुख गायक गाता है तथा चार-पांच सहायक उसका अनुकरण करते हैं। **पालिया** अर्थात् सहगायक अपने गीतों द्वारा हास्य उत्पन्न करते हैं। भक्त, प्रभु की कृपा से अभिभूत हो जाते हैं जिसे देवी आना कहते हैं। विभिन्न देवी-देवता उस भक्त विशेष पर आते हैं एवं दर्शकों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

धुणुकी नाटक धुणुकी नामक संगीत वाद्य पर आधारित है। यह भारत में सब जगह प्रचलित है। हिन्दी में इसे धुनधुनैया या **प्रेमताल** कहते हैं। अन्य जगहों पर इसे यंत्र के रूप में बजाते हुए देखा जा सकता है, लेकिन उड़िसा में एक नाटक ही इस पर आधारित हैं। इसकी कथावस्तु मुख्यतः पौराणिक है। **धुणुकिया** और **धुणुकियानी** के अतिरिक्त चार-पांच लड़कों का समूह जिसे **गोटी पिला** कहते हैं—इसमें भाग लेता है। **धुणुकिया** सूत्रधार होता है और नाटक में गीतों की भरमार होती है। इन नाटकों का वैशिष्ट्य **युक्ति गीत** हैं—जो दो पात्रों के बीच में व्यवहृत होते हैं। **सभागीत** विषय-प्रवर्तन का कार्य करता है।

भारतीय लोकसाहित्य का सशक्त प्रतिरूप उड़िया लोक गीतों, नृत्य में विद्यमान है। अन्य प्रदेशों से सांस्कृतिक, भौगोलिक, एवं सामाजिक वैषम्य के कारण इसका अपना वैशिष्ट्य है।

****

केरल का दारुशिल्प : भारतीय संस्कृति के संवाहक

डॉ. एन. चन्द्रशेखर नायर

केरल अपनी मूर्तिकला एवं स्थापत्यकला के लिए प्रसिद्ध है। यहां की मूर्तियां प्रस्तर, धातु, हाथी-दांत और दारु के माध्यमों में अपनी समग्रता पा गयी हैं। लेकिन शिल्पों को नितान्त केरलीय मानना उचित नहीं मालूम होता। शिल्प के लिए योग्य दारु केरल में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। केरल में बड़े-बड़े घर और महल ही नहीं अपितु दैत्याकार जलयान भी दारु के बनाये जाते थे। सब के सब शिल्प से अलंकृत होते थे। देवी-देवताओं के शिल्प दारु से निर्मित किये जाते थे। कई मन्दिरों के विशिष्ट समारोहों के उपयोगार्थ बड़े-बड़े सुन्दर रथ भी बने हैं। केरल के कतिपय रईसों के घरेलू उपकरणों में शिल्पकला से अलंकृत सुन्दर वस्तुएं पायी जाती हैं। तख्ते, पेटी, ढाल, खाट और चौखट आदि दारु के जो बनते थे, शिल्पकला के आकर्षक उपादान थे। इन चीजों को कलासुभग बनाने की अभिरुचि केरल के शिल्पियों में परंपरा से चली आ रही थी।

कला और प्रतीक

भारतीय मूर्तियां प्रतीकों के रूप में भी निर्मित होती थीं। इन प्रतीकों में देशीय अभिरुचि का प्रकाशन होता था। भारत की सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से मूर्तिशिल्पों में परिलक्षित भावात्मक एकता सर्वथा स्पृहणीय है। वैदिक काल से लेकर भारत में कुछ ऐसे प्रतीक प्रचार में रहे हैं जो केरल के लिए भी उसी रूप में मान्य थे। गज और पद्म, हंस ये ही वे प्रतीक हैं। इन तीनों प्रतीकों को केरल के दारुशिल्पों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। देव-मन्दिरों के नमस्कार-मण्डप और गर्भगृह के चारों तरफ जहां मूर्तियां दारु की बनी हुई रखी गयी हैं उन्हें हाथियों के ऊपरी फलकों में गजवीरों की जुलूस का अंकन अत्यधिक आकर्षक है। उसी स्थान पर बीच-बीच में विकसित कमलों की भी पंक्तियां हैं मध्य में अष्टदिक्पालकों के शिल्पों को विभक्त करने वाला अंश भी कमलों से असंकृत हैं।

कमल और कमला

पद्म तथा लक्ष्मी दोनों का भारतीय चिन्तन के आधार पर गठबन्धन होता है। पद्म ही पद्मा अथवा कमला हो गयी हैं। वैष्णव भक्ति के मूल में इसी कमला यानी लक्ष्मी का संकल्प काम करता है। केरल के दारुशिल्पों में पद्मपाणी लक्ष्मी और पद्मपाणी विष्णु पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

पद्म-पाणी की रूप-कल्पना ईसा से पूर्व की मानी जाती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि भारती कला की अन्तर्धारा कितनी पुरानी और स्वस्थ है। सांची और भरहुत के प्रवेश द्वारों पर और छतों के फलकों पर पद्मपाणी देवी की मूर्तियां अंकित हैं। पंडितों का मत है कि मोहनजोदड़ों की कमलधारिणि की मूर्ति ऋग्वेद से पुरानी है। वह मातृत्व की देवी मानी जाती है।

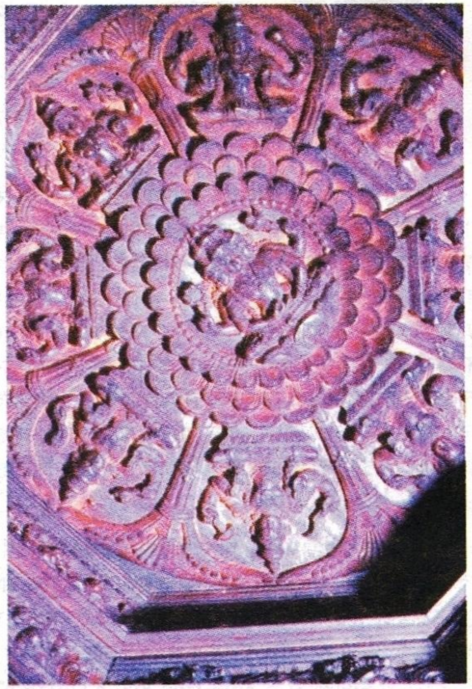

केरल के नमस्कार मंडप की छत्त के भीतरवाले नवग्रह शिल्प (दारूशिल्प)

केरल में पेरुवनम् मन्दिर के दीवार पर इसी प्रकार की एक देवी की मूर्ति है। शिल्प दारु का बना हुआ हैं उसके बांए हाथ में प्रलंबित मृणालवाल एक कमल मुकुल है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में हैं। गले में मालाएं भरी पड़ी हैं। उनमें एक माला उत्तुंग स्तनों के मध्य से होकर उदर के मध्य तक आकर लटक रहीं है। वस्त्र पांवों के ऊपर तक पहुंचा हुआ है और पैरों में मोटे-मोटे नुपुर हैं। वस्त्र का एक अंश कमर के होते हुए नीचे को जाकर पार्श्व की और बह रहा है। मूर्ति की मुखाकृति कमनीय एवं तेजोयुक्त है। नयन शान्त तथा संतृप्त हैं। चेहरे से मातृत्व का भव्य भाव फूट निकलता है। कुलीन वदन, नयन विशाल, अत्यन्त प्रशान्त। देखती है, पवित्र भावों से। नाक लंबी और नुकीली है। दाहिने स्तन-कुंभ के ठीक नीचे अंगूठी तथा तर्जनी दोनों को मिलाये हुए अभयमुद्रांकित पाणी कमल धारण करने वाले कर की कनिष्ठिका ऊपर उठी हुई है। अजन्ता के चित्रों में भी कमल को स्थान दिया गया है। यहां इस दारुशिल्प के साथ कमल मानों स्वत: संबंध पा गया है। तात्पर्य यह है कि केरल के दारुशिल्पों के साथ कमल का सहज संबंध है। पद्मनाभपुरम् महल (अब मद्रास प्रांत में) के चौपाल में काठ का एक अत्यन्त ख्याति प्राप्त खंभा है। उस के ऊपरी भाग में औंधा कमल पुष्प

Created by Bhartesh Mishra

चित्रित है। ये कमल-पुष्प अत्यंत सुन्दर और सूक्ष्म शिल्प-क्रिया के परिचायक हैं। दारु-शिल्प के लिए प्रसिद्ध केरल के देव मन्दिरों के नमस्कार मण्डपों में कमल के छोटे-बड़े फूलों का शिल्प सर्वत्र पाया जाता है। वस्तुत: केरल की शिल्प-विद्या भारतीयता के परिपेक्ष्य में ही पल्लवित हुई है।

शिल्प में गजराज का भी केरल में विशेष स्थान है। वैदिक काल से गज प्रख्यात है। इन्द्र को गज से उपमित भी किया गया है। पीछे एकदन्त गजानन विघ्न-निवारक देवता के रूप में पूजनीय बन गये। ट्रावनकोर रियासत की सरकारी मुहर में ऐसे दो गजवीरों का अंकन था, जो सूंड़ ऊपर उठाये हुए हैं और दोनों आमने-सामने खड़े हैं। खम्भों और फलकों की सुंदरता को बढ़ाने में गजों का चित्रण उपयुक्त साबित हुआ। दारु एवं हाथी दांत से भी गज के रूप गढ़ लिये जाते थे। हाथियों की सवारियों को चित्रित करने वाले दारुशिल्प असंख्य मन्दिरों और राजमहलों के तख्तों में पाये जाते हैं जो अलंकरण की शोभा में चार-चांद लगा देते हैं। इन सवारियों के गजों में किसी किसी के सिर के स्थान पर शेर का सिर है जिसने कमल की ही भांति प्रमुख स्थान प्राप्त किया है केरल के मन्दिरों के नमस्कार मण्डपों में मुद्रित अष्टदिक्पालकों के बीच में ब्रह्म की जो मूर्ति है वह हंस पर आसीन है। हंस विशुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। आत्मा को हंस कहते हैं। यानि हंस विराट-पुरुष के समान है, अर्थात् जल-स्थल और गगन में विचरण करने वाला है। केरलीय कला की अभिव्यक्ति में हंस की गणना नगण्य नहीं है। दारुशिल्पों में कमलों के साथ-साथ हंसों की पंक्तियां भी कहीं-कहीं प्राप्त होती हैं। दारुशिल्प की तरह भित्ति-चित्रों तथा अन्य चित्रों में भी हंस सफलता से अंकित हैं।

देवी दुर्गा की एक भव्य दारूशिल्प

दारुशिल्प

केरल की कलात्मक उपलब्धियों में सब से प्रशस्त एवं समृद्ध विभाग दारु-शिल्प का है। एलोरा, एलिफेन्टा, अजंता आदि भारती कलामन्दिरों का अध्ययन करके यह निर्णय किया जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती कि भारतीय कला अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए स्थापत्य को बनाये रखने के प्रति जागरूक थी। इसका सुकोमल स्वरूप केरल में सर्वत्र पाया जाता है। केरल में वास्तुशिल्पों को दारु-शिल्पों से अलंकृत करने की बात में विशेष ध्यान दिया जाता था। पुरातन केरल के प्रतापशाली भवनों का निर्माण कष्ट से किया जाता था? भित्तियाँ काष्ट की बनी थी। इन दारु निर्मित भवनों को अलंकृत रखने की रीति भी सर्वत्र प्रचलित थी। दारु के भवन निर्माता मशहूर शिल्पी भी रहे थे। ये मूर्तियाँ और लता आदि अलंकरण की वस्तुओं से भवन को सजाने में कोई कसर उठा नहीं रखते थे।

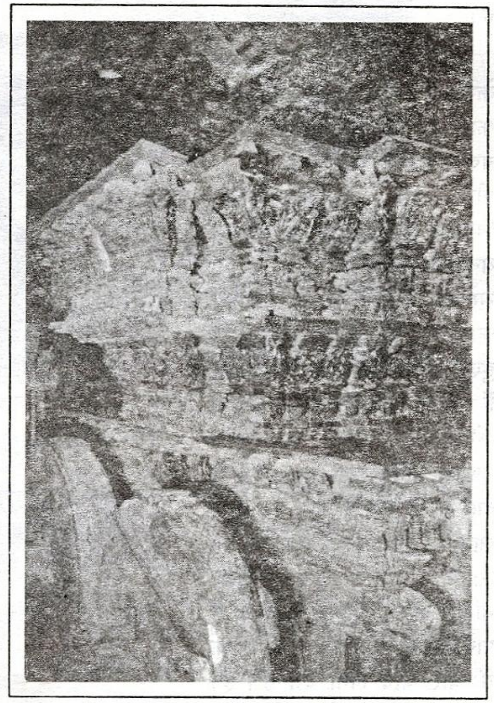

मंदिरों में जुलूस के लिए तैयार दारूशिल्प के रथ

आराधना और अलंकार

पुरातन केरलीय भवनों के निकट ही आराधना के लिए देवालयों का निर्माण किया जाता था। उन देवालयों में दारुशिल्पों की सुसज्जा की जाती थी। मन्दिरों से प्रमुख द्वारों में व्यक्तियों तथा द्वारपालकों के दारुनिर्मित शिल्प रखे जाते थे। देव मन्दिरों में दारुनिर्मित मूर्तियाँ असंख्य हैं। इनमें देवियों यानी लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, यक्षिणी, सती आदियों के शिल्प विशेष उल्लेखनीय हैं। देवों में शंकर, विष्णु, ब्रह्मा कृष्ण, दशावतार, राम, अष्ट-दिक्पाल, नवग्रह, गणपति, कार्तिकेय,

Created by Bhartesh Mishra

नरसिंह शास्ता, हनुमान, नरनारायण, दक्षिणामूर्ति आदि प्रमुख हैं। ऋषि-मुनियों में नारद, वशिष्ट, अष्टावक्र और सनकादि सप्तर्षि मुख्य हैं। रावण, महिषासुर, मारीच आदि असुरों की मूर्तियाँ भी सुलभता से प्राप्त होती हैं।

रामायण, भागवत, देवीपुराण, भारत, हालास्यमाहात्मय, शिवपुराण आदि ग्रन्थों में वर्णित कथाओं के आधार पर श्रृंखलित मूर्ति-फलक अनेकों प्रसिद्ध मन्दिरों में प्राप्त हैं। एट्टुमानूर, वैक्कम, कुरट्टी, कवियूर, वाषूर, शास्तांकुलंङ्ङरा, कुलत्तुप्पुषा, पद्मनाभपुरम महल, रामास्वामी मन्दिर (तक्कला) मणम्पूर, ऊरकम, तृप्रयार, पेरुवनम, तिरुवार्प, कठिनंकुलम, वाषप्पल्लि, वैल्लूर कलरिक्कल, आदि मन्दिर केरल के दारुशिल्पों के मानो संग्रहालय हैं। ये सब मन्दिर केरल की विशिष्ट शिल्प-कला के विनष्ट वसन्त के सूचक हैं। देवमन्दिर की मूर्तियाँ-आराधना की मूर्तियाँ आज निर्जिव हो चुकी हैं और नयी परिस्थिति में ये देवता भूखों रह कर ज्योतिहीन होते जा रहे हैं। लेकिन वहाँ बाहर रखी हुई शिल्प-मूर्तियाँ आज भी केरल की पुरानी प्रतिभा एवं प्रयोग की ओर इंगित कर रही हैं। आज इन मूर्तियों के रूप और भाव के संबंध में जानने वाले मन्दिर के अन्तेवासी भी नहीं मिलते।

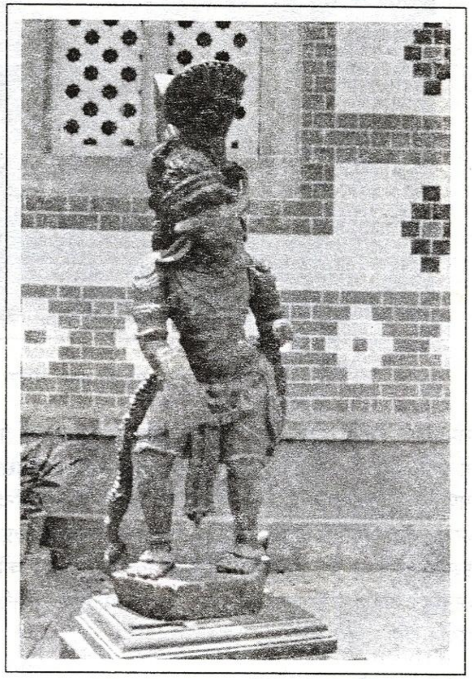

कुलत्तुप्पुवा वाले मंदिर का तहिषापुर मूर्ति का दारूशिल्प

फुटकर मूर्तिशिल्पों के अलावा लंबे फलकों में चित्रित पौराणिक कथाओं के रूप में भी असंख्य मूर्तियाँ केरल में पायी जाती हैं। ये मूर्ति शिल्प निर्माण की रीति के अनुसार कई प्रकार के हैं। दो तीन इंच से लेकर छः-सात फुट की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी इनमें पायी जाती हैं। गजेन्द्रमोक्ष,

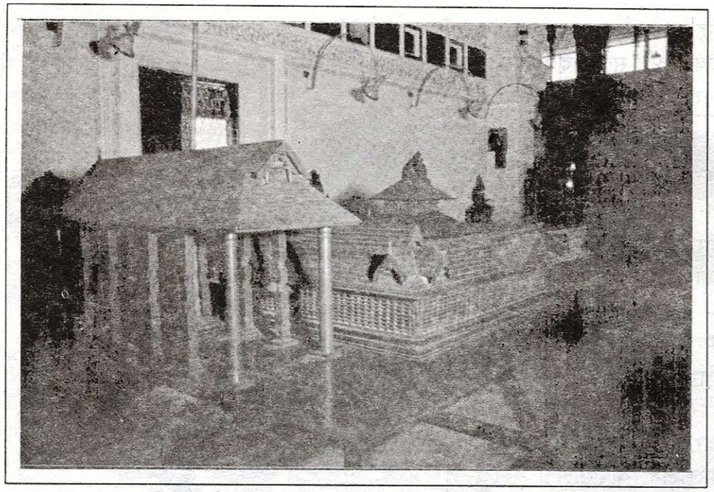

गुरूवायुर श्री कृष्ण मंदिर

रामायणकथा, श्री कृष्णलीला, किरातार्जुनीय आदि कथाओं पर आधारित मूर्तियां अधिकतर मन्दिरों में प्राप्त होती हैं। मन्दिरों के शिल्प, गर्भगृह के चारों ओर इसकी ऊपरी मंजिल पर तथा नमस्कार-मण्डप की छत में करीने से प्रतिष्ठित हैं। किसी-किसी मन्दिर के नमस्कार मण्डप मूर्तिशिल्पों के अजायब घर जैसे मिलते है एटुमानुर पेरुवानम् तिरुवारप तिप्राङ्गर आदि मंदिरों के नमस्कार मण्डप इसके उदाहरण हैं। चमत्कारित, भावाभिव्यक्ति, शिल्प-कौशल, अलंकरण, अनुपात का सूक्ष्म अनुमान आदि मूर्ति-गठन के लिए जितनी आवश्यक जानकारियाँ चाहिए, उन सब का समर्थ प्रयोग वहाँ द्रष्टव्य है।

ध्यान-मंत्र और दारुशिल्प

मन्दिर की दारुशिल्प-मूर्तियाँ देवी-देवताओं की योग्यता तथा गौरव के अनुकूल ही चित्रित की गयी हैं। केरलीय मूर्तियाँ अधिकांशतः संस्कृत के ध्यान श्लोकों को ध्यान में रख कर ही गढ़ी जाती थीं। प्रख्यात एवं सर्वाराध्य देवी-देवताओं के स्वरूप-वर्णन का आधार ध्यान श्लोक है। उनकी कलामय अभिव्यक्ति केरल की दारु मूर्तियाँ हैं। भावों की ऐसी मधुर अभिव्यक्ति हुई है कि वे देखते ही बनते हैं। शिल्पी की असाधारण प्रतिभा का परिचय देने वाले असंख्य शिल्प केरल भर में बिखरे पड़े हुए हैं। पेरुवनम् मन्दिर (त्रिचूर से छः मील दूर) की दारु-मूर्तियाँ अपनी

Created by Bhartesh Mishra

अभिव्यक्ति एवं शैली की दृष्टि से श्रेष्ठ तथा मोहक हैं। उनमें बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ जो मिलती हैं सब श्लोकों के साहित्य के साकार रूप हैं। एट्टुमानुर महादेवमन्दिर के गर्भगृह की बाहरी भित्ति पर रामायण, भागवत एवं भारत की कथाओं के मूर्ति शिल्प हैं जो दर्शकों को विस्मयविमुग्ध कर देते हैं। ध्यान श्लोकों को प्रत्यक्ष रूप देने में शिल्पियों ने संपूर्ण मनोयोग का परिचय दिया है। साहित्य और कला का यह सम्मोहक संयोजन धार्मिक परिवेश में कितना प्रभावकारी हो गया है, इसका अनुभव सूक्ष्मदर्शी प्रेक्षक ही कर सकता है। रामचन्द्रजी के मूर्ति-शिल्प में निम्नलिखित सुन्दर श्लोक को ध्यान में रख कर देखें, तो आस्वादन का काम सुकर हो जाता है।

कलांभोधरकान्तिकन्दमनिशं
वीरासनाध्यासितम्
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं
हस्तांबुजं जानुनि
सीतां पार्श्ववगतां सरोरुहकरां
विद्युन्निभांराघवं
पश्यन्तम् मकुटांगदादि
विविधाकल्पोज्वलागं भजे ।

योग दशा में स्थित नृसिंह-मूर्ति के दारु-शिल्प केरल के अधिकतर मंदिरों में मिलते हैं । नृसिंह का उग्ररूप दारुमें अंकित करना असाधारण तपस्या एवं मनोयोग से ही संभव है । केरल के दारुशिल्पों में दर्शित भाव-ज्योति का रहस्य उस के निर्माता शिल्पों के ध्यान एवं व्रताचरण का ही फल माना जाना चाहिए । यह कला संयम और तपस्या से ही पूर्णतया सफल हो सकती है । इस भाव-ज्योति की अभिव्यत्ति में केरल के दारु-शिल्पी विजय प्राप्त कर सके हैं, इसमें सन्देह नहीं है । इन शिल्पियों ने ध्यान-श्लोकों को भली भाँति कण्ठस्थ कर लिया है । ध्यान श्लोकों का यथावत रूप अंकित करने में वे दत्तचित रहे हैं, और फिर स्वानुभूत ध्यान-गरिमा और निष्ठा के बल पर मूर्ति-शिल्पों में आन्तरिक चेतना का सन्निवेश कर दिया है। योगरूप नृसिंह का उग्र रूप संस्कृत-साहित्य में प्राप्त है—

केवलं नृसिंह देवं
पद्मपोठोपविष्टात् द्वै पादो
व्यत्ययेनयस्तोल्कटिकासनेन
आसयित्वा ऊरुमध्ये
वस्त्रोणावध्य सर्वाभरम संयुक्तं
चतुर्भुजं शंख चक्र-
धरमन्यहस्तौ जानूपविष्टात्
प्रसारितौ च कारयेत्

प्रस्तुत भाव से युक्त नृसिंह मूर्ति के विविध आकार के शिल्प केरल के असंख्य मन्दिरों में रखे पाये जाते हैं। देवमूर्तियों का निर्माण करते समय वर्णित तथा प्रसिद्ध आभूषण, आयुध, वस्त्रालंकार, मुद्राएं आदि पर पूरा ध्यान दिया गया है।

शिवपरिवार

पेरुवनं मन्दिर के 'माडत्तप्पनकोविल' के छतों पर स्थित शिव परिवार के दारु-शिल्प कलात्मक और साहित्यिक संयोजन का उदात्त दृष्टान्त हैं। नीचे उद्धृत श्लोक का साक्षात् अनुभव वहाँ के एक दारु-शिल्प के रूप में पाया जा सकता है—

मूले कल्पद्रुमस्य द्रुतकनकनिभं
चारु पद्मासनस्थम्
वामाङकारुढ़ गौरीनिबिड्कुचभरा-
भोगगाढ़ोपरुढ़म्
सर्वालंकारकांतं वटपरशु
मृगाभोतिहस्तं त्रिनेत्रम्
वन्देबालेन्दुमौलिं गजवदन
गुहाशिलष्ट पार्श्व महेशम्॥

शिवपरिवार से संबंधित असंख्य कथाएँ सौ-सौ दारुशिल्पों में यहाँ सुंदर अभिव्यक्ति पा गयी हैं। दारुमूर्तियाँ के लिए यह एक मनोहर अजायबघर है। इन मूर्तियों के अलावा उस मन्दिर का पूर्व भाग दारु से बनी स्थापत्कला के लिए श्रेष्ठ नमूना है। दारु-मूर्तियों के अंकन में ध्यान-श्लोक का प्रयोग जो केरल में हुआ है वह एक अलग पठनीय विषय है।

उपेक्षित कला

केरल की दारु-मूर्तियों की प्राचीनता के संबंध में यही कहा जा सकता है कि उनका निर्माण-काल ग्यारहवीं सदी से लेकर अठारहवीं सदी तक है। शैली एवं रचना की विशेषता की दृष्टि से केरल भर की दारु-मूर्तियों में निकट का साधर्म्य है। मूर्तियाँ मांसलप्रकृति की हैं और चेहरे भरे हुए। गढन और चेष्टा के आधार पर एल्लोराएलिफेंटा की मूर्तियों से केरल की मूर्तियों में ठोस अन्तर ढूँढ़ लेना कठिन है। शिलामूर्तियों के निर्माण की रीति दारु-मूर्तियों की तुलना में भले ही भिन्न रही हो, पर भावाभिव्यक्ति को बोध-गम्यता में तनिक भी अन्तर मालूम नहीं होता। भारतीय कला ने संस्कृत साहित्य में वर्णित नायक नायिकाओं की मूर्तियों के रूप में अभिव्यक्ति पायी है। संस्कृत कवियों ने कला को अपनी साहित्यिक रचनाओं में स्थान दिया है। कला के लिए पर्याप्त सामग्री उनके वर्णन में हैं। सालभंजिका यंत्र-पुत्रिका, कनक-पुत्रिका जैसी मूर्तियों का वर्णन है। उत्तर भारत से अधिक दक्षिण भारत में संस्कृत भाषा प्रचार में रही थी। तब यह

Created by Bhartesh Mishra

स्वाभाविक था कि समूचे भारत में कला की प्रेरणा और अभिव्यक्ति में एकरूपता दिखाई दे। मगर आज इन मूर्तियों के प्रति हमारी सहानुभूति लुप्त प्राय हो गयी है। श्रेष्ठ और त्यागी शिल्पियों ने तप और ताप को सह कर अपनी अविराम सृजनात्मक भावना से जो महान उपलब्धि प्रदान की है उनके प्रति हम आज कृतघ्न हैं। प्रस्तरखण्ड और शुष्क काष्टखण्ड से साक्षात सौन्दर्य की सृष्टि करने का वह महान वैदग्ध्य आज का मनुष्य निर्ममता के साथ भुला देने की जो चेष्टा कर रहा है यह भावी मानव के लिए क्या कल्याणकारी हो सकता है ?

त्रिवेन्द्रम वाले अजायबघर में रखे हुए दारुशिल्प

त्रिवेन्द्रम वाले अजायबघर में केरल के देवमन्दिरों के कतिपय दारु-शिल्प सुरक्षित है। मूर्ति-शिल्पों के साथ रथों और मन्दिरों के मॉडल भी रखे गये हैं। केरल के देवी-देवताओं के उत्सवादि के उत्सादि दिनों में मूर्तियों का जुलूस निकलता है। उस जुलूस में रथों का भी प्रस्तुतीकरण होता है। ये रथ कला की अभिव्यक्ति में अति आकर्षक हैं। ये शिल्पकारिता के ऐसे नमूने हैं, जो बारीकी के काम में लाये गये हैं।

श्री गुरुवायूर मन्दिर आज हमारे भारत में मशहूर हैं। आजकल इस श्रीकृष्ण मन्दिर को सोने से मढ़ा दिया गया है। प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयों का नैवेद्य यहां चढ़ाया जाता है। दक्षिण में तीन देव-मन्दिर ऐसे हैं, जो पूजादि विधि और धन-सम्पत्ति के अर्पण में सबसे आगे हैं। वे हैं तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश में) गुरुवायूर और शवरिमलै (केरल में) त्रिवेन्द्रम वाले अजायबघर में गुरुवायूर मन्दिर का नमूना दारु-शिल्प के रूप में रखा हुआ है।

केरल के मन्दिरों के नमस्कार मण्डप मूर्ति-शिल्पों के कला भवन जैसे हैं। एक मॉडल त्रिवेन्द्रम वाले अजायबघर में रखा गया है, जिसकी छत पर मुद्रित दिक्पालकों के फलकों की शिल्पकला दर्शनीय है।

मूर्ति-शिल्पों में नृसिंह मूर्ति, दुर्गा, दक्षिणामूर्ति और महिषासुर की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। वे सब पन्द्रहवी सदी में निर्मित हैं। इनमें दक्षिणामूर्ति का शिल्प दक्षिण केरल के तिरुवट्टार नामक देवालय का है और अन्य तीनों कुलत्तुप्पुषा नामक चेंकोट्टा निकट वाले देवालय के हैं। ये सारे दारु-शिल्प केरल की मूर्ति-कला के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं।

केरल का अजायबघर स्वयं अपनी कलाभिव्यक्ति के लिए उत्तम नमूना है। यह विशाल भवन स्वयं दारु निर्मित है। भीतर से देखने पर भी इस कलाभवन की मनोहारिता अत्यंत प्रशंसित है। प्राचीन दारु-शिल्प-विद्या का इतना सुन्दर उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलेगा। ये सब मूर्तियां केरल की दारु-शिल्प-कला का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करें, यह मानना ठीक नहीं होगा। लेकिन कला की शैली और दारु-शिल्प-कला का प्रतिनिधित्व ये अवश्य करती होगी।

****

राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता और राम-भक्ति का विकास

डॉ. रामगोपाल शर्मा ''दिनेश''

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक सशक्त सांस्कृतिक काव्य-धारा रामभक्ति-काव्य है। इस धारा के काव्य में राम की भक्ति और महिमा-गान का शाश्वत स्वर व्याप्त है।

भारतीय जीवन-संगीत में **राम** शब्द अति प्राचीनकाल में उसी प्रकार अन्तर्व्याप्त हैं,जिस प्रकार गंगा जल भारत की धरती में अन्तर्व्याप्त है। कितने ही मत-मतान्तर इस देश में फैले कितने ही धर्म यहाँ चले या बाहर से आए, सब पर **राम** की महिमा का प्रभाव रहा। राम शब्द के साथ मनुष के जन्म का हर्षोल्लास पर्व सम्पन्न होता है और इसी शब्द से अंतिम यात्रा भी पूर्ण होती है।

भारत के सभी मत-मतान्तरों (धर्मों) का उदय एक ही मूल स्रोत **वेदों** से हुआ है। इसी स्रोत की गहराई में **राम शब्द** भी गूंज रहा है। यद्यपि पश्चिम के कुछ विद्वानों ने इस सत्य को झुठलाने की चेष्टा की है, किन्तु वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके।

वेदों में राम-कथा

ऋग्वेद के दशम मण्डल में केवल **राम** का ही उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि इक्ष्वाकु दशरथ, जनक, सीता आदि का भी उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान नीलकंठ में राम-कथा सम्बन्धी लगभग 150 मंत्रों का **मंत्ररामायण** नाम से संकलन किया है। यों **''राम''** की ऐतिहासिक प्राचीनता तो वेदों से सिद्ध होती ही है, साथ ही भारत के इन प्राचीनता आर्ष ग्रन्थों से **राम** के विष्णु स्वरूप का भी परिचय मिलता है।

बाल्मीकि रामायण और महाभारत में राम भक्ति

रामकथा का पूर्ण विस्तार तथा काव्य-मय वर्णन बाल्मीकि रामायण में किया गया है। यह इस प्रकार का पहला उपलब्ध ग्रन्थ है। विद्वानों के मतानुसार इसकी रचना ईसा के ग्यारह शती पूर्व हुई थी। कुछ विद्वान इसका रचनाकाल ईसा से तीन शती पूर्व मानते हैं। परन्तु इत मत से सभी सहमत हैं कि महात्मा बुद्ध से पहले यह महाकाव्य रचा जा चुका था, क्योंकि इसमें बुद्ध का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं मिलता है।

Created by Bhartesh Mishra

महाभारत के आरण्यक, द्रोण एवं शांति पर्वों में बाल्मीकि रामायण की रामकथा के प्रसंग वर्णित हैं। यह भी सिद्ध हो चुका है कि महाभारत की रचना के समय रामकथा लोक जीवन में प्रचलित थी। बाल्मीकि ने राम को अलौकिक महापुरुष के रूप में चित्रित किया है और महाभारत में उन्हें अवतार के रूप में देखा गया है। स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत की रचना के समय **राम** भक्ति का जन-जीवन में प्रसार हो चुका था।

पुराणादि ग्रंथों में राम-भक्ति

राम-भक्ति की सरस भावना रामाख्यान के माध्यम से अगस्त्य संहिता, राघवीय संहिता, रामपूर्व तापनीय उपनिषद, रामोत्तर तापनीय उपनिषद, रामरहस्योपनिषद आदि ग्रन्थों में भी चित्रित हुई है। अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, भुशुण्डि रामायण, हनुमत, संहिता, राघवोल्लास, भागवत पुराण, कर्म आदि ग्रन्थ भी राम की महिमा और राम भक्ति की प्राचीनता सिद्ध करते हैं। इन ग्रन्थों में इस राम-कथा की रोचक काव्य-मय अभिव्यक्ति मिलती है। बाराह-पुराण, अग्नि पुराण, वामन पुराण, लिंग पुराण, ब्रह्म पुराण, गरूड़ पुराण, स्कन्द पुराण, पद्य पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण आदि में भी राम-कथा के रोचक प्रसंग चित्रित हुए हैं। इन सभी पुराणों में राम का परमब्रह्म ईश्वरीय स्वरूप चित्रित हुआ है। संसार के अनेक विद्वानों ने राम-कथा पर अनुसंधान किए हैं। महापुरुष तथा अवतारी स्वरूप में राम प्राचीनता मान्यता का वे भी खंडन नही कर सके।

''राम'' भारतीय संस्कृति के पर्याय

हिन्दी के जो समीक्षक पाश्चात्य चिन्तन के आधार पर भारतीय-धर्म-साधना का मूल्यांकन करते हैं, वे भारत की सांस्कृतिक राष्ट्रीय अस्मिता की उपेक्षा करके एकांगी दृष्टि प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार के निरर्थक प्रश्नों में लोगों को उलझा देते हैं कि राम ऐतिहासिक पुरूष थे या मात्र काल्पनिक ? किन्तु इस प्रकार के प्रश्नों का कोई औचित्य नहीं हैं क्योंकि **राम** शब्द वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति और साधना का पर्याय बन कर भारतीय साहित्य में प्रयुक्त होता जा रहा है।

भारतीय संस्कृति किसी पाश्चात्य देश से उखाड़ कर यहाँ लगाया गया पौधा नहीं है। ''**राम**'' इस संस्कृति रूपी पादप का सदाबहार पुष्प है। इस कथन को कल्पना और अलंकारिक अतिरंजना मात्र समझना भूल होगी। वैदिक धर्म में राम हैं, वेदों से रस लेकर विकसित परवर्ती शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध एवं जैन धर्मों में ''**राम**'' हैं। मध्यकालीन विचारों की टकराहट में भारत से बाहर गए बौद्ध धर्म ने बहुत कुछ पुराना छोड़ा, नया अपनाया, किन्तु उसके ''**त्रिपिटक**'' में भी **राम** कथा के अंश वर्तमान हैं। बौद्ध जातक-कथाओं में ''**दशरथ जातक**'' एवं अनामर्क जातक भी राम-कथा के लिए सर्वविदित है। जैन धर्म में ''**राम**'' की मान्यता बौद्ध धर्म से भी

अधिक मिलती है। प्रसिद्ध जैन काव्य ''**पउम-चरियम्**'' (विमलसूरि) ''**राग-चरियम्**'' व ''**सिया-चिरयम्**'' (भुवनतुंग सूरि,) ''**पदम् चरित**'' (रविषेण) ''**उत्तर पुराण**'' (गुणभद्र) ''**पउमचरिउ**'' (स्वयंभू), ''**महापुराण**'' (पुष्पदंत) आदि में राम-कथा का महिमा-मय विस्तार हुआ है। जैन-लेखकों की दृष्टि वैष्णव कवियों का अनुसरण नहीं करती, किन्तु जीवन के महान आदर्शों और मूल्यों की स्थापना के लिए भारत के हर धर्म में राम-कथा और राम की भक्ति को आधार बनाया है। अनेक मत-मतांतर इस देश में रहें, राम-भक्ति का किसी ने विरोध नहीं किया। जिसने भी भारत को अपनी जन्म-भूमि माना है, हिमालय से रामेश्वरम् तक की धरती से प्यार किया है, गंगा के पवित्र पानी को जिसने भी अपना समझा है, उसने राम से प्यार किया है। मध्यकाल के अनेक मुस्लिम हिन्दी कवि विष्णु के अवतार के कृष्ण के रूप पर तो रीझे ही हैं, राम से भी उनका अनुराग कम नहीं रहा। फलतः मुस्लिमकाल में ही राम का सर्वाधिक प्रचार प्रसार हुआ और उसी के फलस्वरूप राम-रहीम की एकता की अनुभूति हर भारतवासी को हो सकी। भारत का हर गाँव गोस्वामी तुलसीदास के समय में ही राम-रहीम की एकता की अनुभूति हर भारतवासी को हो सकी। भारत के हर गाँव में गोस्वामी तुलसीदास के समय में ही राम-रहीम की एकता के गहन सूत्र में बंध गया था, जिसके फलस्वरूप हर ग्रामवासी गॉव के सैयद बाबा और राम को एक पूजता था, चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो। **राम** शब्द का यही सांस्कृतिक जादू है। जिसे न समझने वाले लोग ही विघटन का बीज बोते रहे हैं।

दक्षिण भारत में राम भक्ति

केवल उत्तर भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी राम कथा और उसके माध्यम से राम-भक्ति का प्राचीनकाल से ही प्रचार-प्रसार रहा है। आन्ध्र प्रदेश का दण्डकारण्य तो राम-कथा का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र ही रहा है। अयोध्या में राम का जन्म हुआ तो दंडकारणय उनकी प्रवास-स्थली रही। आंध्र प्रदेश का भद्राचलम् स्थान भी राम-भक्ति का प्रतीक बना हुआ है, जहाँ राम के अनेक मंदिर हैं। भास्कर रामायण, रंगनाथ रामायण, गोपीनाथ रामायण, श्रीमद् आंध्र वाल्मीकी रामायण आदि श्रेष्ठ राम-कथा ग्रन्थों की रचना आंध्र प्रदेश में ही हुई थी। दक्षिण की अन्य भाषाओं में भी राम कथा काव्य मिलता है। तेरहवीं शती में मलयालम भाषा में **रामचरित्** की रचना राम कवि ने की। अच्चपिल्लई ने इसी शती में **रामकथाप्पटटू** नामक काव्य लिखा। इनके पश्चात् कण्णशपणिकर ने **कणणश्श रामायण,** पूनम नंपूमतिरि ने रामायण चम्पू, एलुतच्छन ने अध्यात्म रामायण तथा केरल वर्मा ने केरल-रामायण की रचना करके राम-कथा की लोकप्रियता का परिचय दिया। कर्नाटक में गुणभद्र ने जैन परम्परा के अन्तर्गत राम-कथा पर ''**उत्तर-पुराण**'' काव्य लिखा। कन्नड़ भाषा में नरहरि कृत **तोरबे रामायण** ब्राह्मण परम्परा का श्रेष्ठ राम काव्य है। इसी भाषा में प्रसिद्ध ''**पम्प रामायण**'' की भी रचना हुई।

Created by Bhartesh Mishra

आदिवासियों में राम भक्ति

केवल उच्च वर्णों या धार्मिक सम्प्रदायों में ही मध्यकाल से अब तक राम-कथा का आदर पूर्ण स्थान नहीं रहा, बल्कि आदिवासी जातियों में भी राम-कथा अत्यन्त लोकप्रिय रही है। उत्तर भारत की संथाल जाति, छोटानागपुर की असुर जाति, मध्यप्रदेश की बैगाभूमियों एवं मुंडा जातियां नर्मदा घाटी में बसी परधान जाति तथा मध्य क्षेत्र में फैली केवट और भील जातियों में राम-कथा अत्यन्त लोकप्रिय रही है। राम की इसी लोकप्रियता में वे तत्व अन्तर्निहित हैं, जो राम-भक्ति को भारत की सांस्कृतिक आत्मा और राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बना देते हैं।

राम-भक्ति और दक्षिण के आलवार संत

वेदों से आदिवासी लोक-जीवन तक प्रचलित राम-कथा के **राम** वैष्णव-भक्ति का केन्द्र तब बने जब दक्षिण के आलवार सन्तों ने उन्हें विष्णु का अवतार मानकर पूजना प्रारम्भ किया। आलवार भक्तों की संख्या बारह बताई जाती है, जिनमें पाँचवें अवतार भक्त नम्मालवार माने गए हैं। इन्हें राम की पादुका का अवतार बताया गया है। ये व्यंकाचल में साधना करते थे। वहाँ उन्होंने ही सर्वप्रथम **राम** की मूर्ति की स्थापना की थी। उन्होंने **''सहस्रगीति''** नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें दशरथ-पुत्र राम की भक्ति भावना का चित्रण हुआ है। सातवें आलवार संत केरल के राजा कुलशेखर थे, जिनकी राम-भक्ति भी बहुत प्रसिद्ध है।

दक्षिण के आचार्यों का योगदान

आलवरों के पश्चात् दक्षिण भारत के ही श्री सम्प्रदाय एवं ब्राह्मण सम्प्रदायों का राम-भक्ति के प्रसार में उल्लेखनीय योगदान रहा। ब्राह्मण सम्प्रदायों के प्रवर्तक मध्वाचार्य तो हनुमान के अवतार ही माने जाते हैं। राम-भक्ति के अन्य प्रबल प्रचारक रामानुजाचार्य हुए, जिन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद चलाया। उन्होंने यादवाचल पर राम की मूर्ति की स्थापना करके राम-भक्ति का प्रचार किया। रामानुजाचार्य की तेरहवीं पीढ़ी में हुए राघवानंद और फिर उनके शिष्य रामानंद ने उत्तर भारत में राम-भक्ति का व्यापक प्रचार किया। रामानंद ने सीता और राम को इष्टदेव के रूप में शक्ति का विषय बनाया तथा जाति-पाँति एवं ऊँच-नीच के बन्धनों को तोड़तें हुए राम-भक्ति का द्वार सब लोगों के लिए खोला। उन्होंने संस्कृत में **''वैष्णव मताब्ज भास्कर''** तथा **''श्री रामचरित पद्धति''** नामक ग्रंथ लिखें एवं **''रामराक्षस्त्रोत, योग-चिन्तामणि''** आदि ग्रंथों की हिन्दी भाषा में रचना की। ऊँच-नीच एवं सगुण-निर्गुण में समन्वय स्थापित करके रामानंद ने राम-भक्ति को मानव-समता का जो आदर्श दिया, उसी का प्रकाश कबीर की निर्गुण भक्ति के निराकर **''राम''** और सिख धर्म के प्रवर्तक गुरूनानक देव की वाणी में अन्तर्व्याप्त हुआ। वही प्रकाश तुलसी के सगुण-भक्ति के दशरथी राम में अनन्त विस्तार पाकर देश-काल सीमा का अतिक्रमण कर गया।

फलत: आज **राम** शब्द किसी एक जाति या धर्म या क्षेत्र तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि वह हर भक्त-हृदय की शाश्वत अन्तर्ध्वनि बन गया है। इसी अन्तर्ध्वनि का सहारा लेकर महात्मा गाँधी ने आधुनिक भारत को स्वाधीनता के प्रभात में पहुंचाया और इसी **''राम''** का आदर्श आज विश्व के अनेक जनतंत्रीय एवं साम्यवादी देशों को भी जागृति के नए सोपनों पर चढ़ा रहा है। अत: **''राम''** किसी एक धर्म, जाति या देश के नहीं हैं वे समस्त मानव जाति के लिए पूज्य और आदर्श हैं। हिन्दी काव्य में उनकी भक्ति की सांस्कृतिक धारा प्रवाहिक करने वाले महाकवि तुलसीदास हैं, जिनका **''रामचरितमानस''** महाकाव्य एवं विनय पत्रिका गीत काव्य केवल कविता के ग्रंथ ही नहीं है बल्कि समस्त मानव जाति को उत्पीड़न, विषमता और राजसत्ता के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने वाले महान् शास्त्र हैं। इन महान् काव्यों में मानव-मूल्यों की जितनी व्यावहारिक और श्रेष्ठ व्याख्या मिलती है, उतनी विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। ये ग्रंथ केवल हिन्दू संस्कृति या मात्र भारतीय आदर्शों के महान् काव्य ही नहीं हैं, बल्कि समस्त विश्व की मानव जाति के लिए आदर्श जीवन-मूल्यों के महाशास्त्र हैं, जिनके मूल में **''राम''** की भक्ति-गंगा प्रवाहिक है।

****

Created by Bhartesh Mishra

मौर्य-लोककला : एक मूल्यांकन

श्रीकान्त भगत

प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्यों का इतिहास बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा है। चन्द्रगुप्त ने जिस बड़े साम्राज्य की नींव डाली, उससे देश की राष्ट्रीय संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अशोक के शासन- काल (ई. पू. 272-ई. पू. 232) में तो एक नया सांस्कृतिक युग ही आया जिस दौरान कला के रूप और विषय में बहुमुखी समृद्धि आई। अशोक ने बड़े-बड़े लाटों पर बुद्ध के अहिंसा के संदेश लिखवाये, यह स्तम्भ देश के भिन्न-भिन्न भागों में प्राप्त हैं, और दर्शनीय है।

मौर्य युग के पूर्व की कला के अवशेषों का अभाव है, केवल साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर सभागारों, पुर, द्वारों, स्तूप, चैत्य या वेदिकाओं, शैलगुहाओं, देवगृहों और कई प्रकार के शिल्पों के बारे में जानकारी मिलती है।

मौर्य कला के अभी दो रूप मिलते हैं एक तो सम्राट की इच्छानुसार निर्मित। चंद्रगुप्त के राजसभा और अशोक के स्तंभ इसके उदाहरण हैं। दूसरी लोककला की वह शैली जो यक्ष-यक्षी की मूर्तियों में मिलती हैं। इस तरह की यक्ष-यक्षी की मूर्तियाँ, मथुरा, वाराणसी, विदिशा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों से मिली हैं इन्हीं लोककलाओं के अन्तर्गत मिट्टी की मूर्तियाँ हैं, जो अधिकांश मातृदेवी की हैं तथा ये मथुरा, पाटलिपुत्र, तक्षशिला आदि स्थानों से मिली हैं।

मौर्यकालीन शिल्पियों ने दीर्घकाल से चली आ रही परिचित परंपरा को अपनाया महाभारत के सभापर्व में उन मसालों की चर्चा है, जिससे पाषाण को चिकना और चमकदार बनाया जाता है।

महाभारत में वर्णन है कि दुर्योधन पांडवों के राजमहल में भ्रमित होकर जल को स्थल और स्थल को जल समझने लगा था। जैन औपातिक सूत्र (2/5) में पूर्णभद्र चैत्य के लिए चमकीली ओप का वर्णन है। जैनों के पृथिवी शिलापद पर भी ऐसी चमकीली प्रभा उत्पन्न की जाती थी। ये शिलापट्ट पृथिवी देवी के पूजा के लिये थे। (आयस तलोपम आदर्शतलोपमा) आदर्श या दर्पण के समान इस चमक का रंग काला (कृष्ण) नीली कलकयुक्त (नीलोत्पल), हरा (मरकत) और कोंचला श्वेत कहा गया है।

अगर उत्तरकालीन भांडों की चर्चा करें तो उस प्रकार के ओपदार चारों रंगों के बर्तन मौर्यकालीन स्थानों पर सारे भारत में पाये जाते हैं। इस प्रकार के ओप के बर्तन की तिथि (ई. पू. 600-ई. पू. 200) आँकी गई है। इस प्रकार सभी साक्ष्य चमकीली ओप और उसके कई रंगों का अस्तित्व प्राङ्मौर्य है। इससे यही स्पष्ट होता है कि देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक ऐसा युग था जब ओपदार बर्तन बनाने में विशेष रुचि ली जाती थी।

1226 D of Culture/2002—6

यहाँ इसकी चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि ओपदार चमक मौर्य स्तंभों एवं अन्य कला-वस्तुओं की विशेषता है। मौर्यकला के पूर्व पाषाण शिल्प पर चमक नहीं पाई गई है।

मौर्यकाल कला-परिवर्तन का संक्रांति काल था,जो काष्ट-शिल्प से बदलकर पाषाण-शिल्प में परिवर्तित हो गया। इसका प्रमाण मथुरा, उड़ीसा, वाराणसी, विदिशा और पाटलीपुत्र से शर्परिक तक उन स्थानों से प्राप्त महाकाय यक्ष मूर्तियां हैं। इन यक्ष-याक्षियों की मूर्तियों की अपनी निजी शैली है। इस शैली को किसी भी पूर्वकालीन शैली से मिलाने की सामग्री अनुपलब्ध है। इतने बड़े भू-भाग से प्राप्त होने के कारण यह स्वत: प्रमाणित होता है कि इसकी अपनी शैली है। उन्हें सम्राट की इच्छा से निर्मित नहीं किया गया था। यक्ष की अतिमानवीय महाकाय मूर्तियां खुले आकाश में स्थापित कर इसके समुख पूजा-पाठ किया जाता रहा होगा। मौर्यकाल में बनी यक्ष मूर्तियां लोककला का रूप मानी जा सकती हैं। क्योंकि शैली और प्रश्रय में वे स्वतंत्र थीं। स्वतंत्र होने के कारण ही स्थानीय शैली प्रचलित हुई, जिसका प्रभाव शुंगकाल में स्पष्ट देखा गया है। भरहुत और सांची में उत्कीर्ण यक्ष मूर्तियां उस स्थानीय शैली की प्रचलित परंपरा का नमूना है। बाद में इनकी अनुकृति बुद्ध और विष्णु मूर्तियों में पाई गई है।

प्राचीन भारतीय कला और धर्म में यक्ष की पूजा लोकव्यापी और लोकप्रिय परंपरा रही है जो आज भी विभिन्न रूपों में पूजे जाते हैं। इसलिये इसकी पीठिका पर चर्चा करना आवश्यक है। पुराकाल से ही यक्षों का संबंध अमरता, शक्ति, दीर्घजीवन और स्वास्थ्य के साथ हो गया था। अमरता, शक्ति गुणों के कारण ही यक्ष-पूजा लोक में फैली। बाद में बौद्धधर्म और यक्षपूजा का लोकधर्म-भातृभाव से एक-दूसरे के समीप आये। शांतिपर्व में यक्ष सदन को अवध्यपुर कहा गया है। अर्थात् ऐसी नगरी जहाँ मृत्यु की पहुँच नहीं है। इसलिये कहीं-कहीं यक्षों को हाथ में अमृतघट लिये दिखलाया गया है।

अथर्ववेद में यक्ष भवन को अपराजितापुरी कहा गया है। यक्ष को जल का देवता भी माना गया है। जैसा कि महाभारत में यक्ष और पांचों पांडवों के संवाद से मालूम होता है। यक्षों की कई मूर्तियां मध्य भारत में नदियों और जलाशयों के पास प्राप्त हुई हैं।

विदिशा एवं परखम के पास से प्राप्त 12 फुट या उनसे ऊँची विशाल शरीर वाली यक्ष मूर्ति प्रचलित स्थानीय शैली को सूचित करती है।

विदिशा से प्राप्त 12 फुट की यक्ष मूर्ति इसका अच्छा नमूना है कि वर्णित लक्षणों के अनुरूप ही शिल्पियों द्वारा यक्ष मूर्ति बनाई गई। दाहिने कलाई एवं अन्य भागों में चोट खाये निशान के अलावा यह मूर्ति अच्छी दशा में है। परखम से प्राप्त यक्ष की मूर्ति विलक्षण है। कानों

Created by Bhartesh Mishra

में भारी कुंडल; पीछे लटकी हुई चार लड़ी वाला स्थूल हार, कमर में चपटा फेटा और नीचे पहनी धोती, छाती पर तिकोना हार, खड़ी मुद्रा में जीवन की गर्वीली छवि को व्यक्त करता है।

पाटलीपुत्र में पायी गयी यक्ष मूर्ति से स्पष्ट है कि मौर्य युग के शिल्पी दक्ष हो चुके थे। पटना से प्राप्त दो यक्ष मूर्तियों पर अशोककालीन ओप अभी भी दिखलाई पड़ते हैं। इनमें से एक मूर्ति का सिर एवं दोनों हाथ की कलाइयाँ खंडित हैं, भुजाओं में लपेटा, गले में चपटा कंठा, बायें कंधे से लटकता हुआ दाहिना बगल से पीठ की ओर चला गया है। नीचे धोती पहने यह अत्यंत सुन्दर है। दूसरी मूर्ति भी इसी के अनुरूप है, पर सिर मौजूद है।

यक्ष के अलावा यक्षी मूर्ति तो और भी मनमोहक है। भोपाल में वेसनगर से प्राप्त 6 ½ फुट विशाल यक्षी मूर्ति सौम्य मुद्रा में खड़ी होने के कारण प्रसिद्ध है।

पटना के दीदारगंज से प्राप्त यक्षी मूर्ति तो मौर्यकला की सूक्ष्मता का अद्भुत नमूना है। मूर्ति की बाईं भुजा खंडित है। दाहिने हाथ में चंवर है। इसलिये उसे चंवरधरिणी यक्षी का नाम दिया गया है। उन पर चमकदार ओप मौर्यकला के सुन्दर नमूनों में से एक है, जहाँ पत्थर को मोम के समान प्रयुक्त कर उसके शरीर को अद्भुत सौम्य और लावणयुक्त किया गया है । उसके शरीर के गठन की पूर्णतया, विशेषत: उभरा वक्ष, पतली कमर, उभरी हुई संघाएं, स्त्रियों के प्रति शिल्पी की सौन्दर्यपरक संवेदनशीलता को दर्शाता है, जिसे उसने बहुत ही दक्षता के साथ पत्थर पर प्रस्तुत किया है।

प्रारंभ में यक्ष पूजा के स्थल को चैत्य या आयतन कहा जाता था। वहाँ पर मिट्टी या पत्थर की पिण्डी बनाकर पूजा की जाती थी। बाद में इसकी व्यापकता के कारण सुविशाल शरीर की बलशाली मूर्तियां बनाकर पूजा की जाने लगी। साहित्य में कई यक्षालयों का उल्लेख है। महाभारत एवं अथर्ववेद में यक्ष को विशाल शरीर वाले सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी और महाबली कहा गया है। प्राप्त यक्ष मूर्तियां में उपर्युक्त बातें पूरी तरह लागू होती हैं। सभी उत्तरकालीन शिल्पियों ने भी उनका अनुकरण किया। उत्तरकालीन बोधिसत्व, तीर्थंकर और विष्णु मूर्तियां भी यक्ष की अनुकृति हैं। महाबलशाली शरीर के साथ-साथ आकृति और वेश आदि विषयों में भी शिल्पियों ने यक्ष को नमूना बनाकर काम किया।

यह स्पष्ट है कि मौर्यकालीन लोककला की शैली का अपना निजी अस्तित्व था जिसने शुंग, कुषाण और गुप्त-कला पर भी गहरा प्रभाव डाला। वैसा प्रभाव मौर्यकालीन राजकीय शैली पर संभवत: नहीं डाल सका। वर्तमान में हनुमान की बनी मूर्ति महाबलशाली आकृति में देखी जाती है। उत्तर भारत के कुछ अखाड़ों में बड़े आकार की मूर्ति बनाकर पहलवानों द्वारा पूजे जाने का प्रचलन है। पटना के दानापुर में कुछ दुकानों के सामने कंकरीट की बनी महाकाय बलिष्ठ

मूर्ति खड़ी मुद्रा में देखी जाती है। स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक परिवेश ही मौर्य शिल्पियों का आधार रहा होगा।

मौर्यकालीन लोककला के अन्य अवशेषों में मृण मूर्तियाँ हैं। कला पारखियों के अनुसार सभी प्राप्त मृण मूर्ति मातृदेवी की हैं। मातृदेवी की मृण मूर्तियां काफी संख्या में पाटलीपुत्र, मथुरा और तक्षशिला से प्राप्त हुई हैं। पटना में पुरातत्व निदेशालय बिहार द्वारा 1970 में डॉ. वी.पी. सिन्हा और लाला आदित्य नारायण के निदेशन में उत्खनन से काफी संख्या में मृण मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनकी तिथि ई. पू. 600-ई. पू. 200 उत्तर कालीन ओप बर्तनों के समकक्ष आँकी गई हैं। प्राप्त मृण मूर्तियों में चौड़ा ललाट, तिकोना चेहरा, सीधे बाल, कान में कर्णफूल, बेलबूटे और मनकों से अलंकृत इनके मानवीय रूप की सादगी को दर्शाता है। पाटलिपुत्र से प्राप्त सभी मृण मूर्तियाँ पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

सैंधव सभ्यता से भी सौंदर्यपूरक मृण मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। सैंधव सभ्यता से प्राप्त एक मूर्ति का सिर पर पंखों के आकार से सुसज्जित है।

सम्भवत: यह मातृदेवी की मूर्ति है। मातृदेवी की यह परंपरा सिंधु सभ्यता के बाद भी जारी रही। मथुरा, कौशाम्बी, तक्षशिला, पाटलीपुत्र, बक्सर, आदि स्थानों से मौर्यकालीन मृण मूर्तियाँ मिली हैं। शैली, विषय एवं निर्माण-प्रक्रिया में सिंधु सभ्यता से प्राप्त मृण मूर्तियों में समानता दिखलाई पड़ती है। अत: मौर्यकालीन मृण मूर्तियां का मातृदेवी का होना निश्चित है क्योंकि अधिकतर विद्वानों ने सैंधव सभ्यता से प्राप्त मृण मूर्तियों का मातृदेवी होना स्वीकारा है।

ऐसा समझा जाता है कि मौर्यकालीन में मिट्टी से मूर्तियां बनाने का श्रेय उन मध्यवर्गीय परिवारों को है, जो शहर में रहते थे, क्योंकि पूजक बौद्ध एवं तीर्थंकर के बाद मातृदेवी की पूजा करते थे। मूर्ति हाथ से बनायी जाती थी। पाटलीपुत्र से प्राप्त मृण मूर्तियाँ हाथ से बनी थीं। मिट्टी के खिलौने बनाने की परम्परा अभी भी चली आ रही है। दीपावली में मिट्टी की मूर्ति बनाकर पूजी जाती हैं। हो सकता है, मौर्यकालीन में मातृदेवी पूजन का दिन निश्चित होता होगा।

पटना के बुलंदीबाग से प्राप्त मृणमूर्तियों में एक नर्तकी की मूर्ति का विशेष महत्व है। नर्तकी का वेष एवं भाव केरल की कथकली नृत्य से साम्य रखता है। सिर के ऊपर अलंकृत अद्धचन्द्राकार तश्तरी के समान शिरोभूषा, कमर से नीचे चौड़ा घाघरा, कमर में गहने, दायाँ हाथ बाँह तक उठा हुआ, कान में कुण्डल मोटी चूढ़ी पहने, मुड़ा हुआ हाथ सीने पर टिका है जो अपने-आप में अनूठा है।

पटना के गोलकपुर उत्खनन से प्राप्त एक मृण मूर्ति की बनावट में दीदारगंज से प्राप्त पाषाण यक्षी प्रतिमा से समानता दिखलाई देती है लेकिन अफसोस है कि इसके सिर और ढेहने

Created by Bhartesh Mishra

के भाग टूटे हुए हैं। मूर्ति खड़ी मुद्रा में, उभरी पेशियाँ, ग्रीवा में मोती के मनकों की माला पहने,सीने पर भी गोल और लंबे मनकों का दो हार है, बाईं छाती के पास पदक की आकृति बनी है और हाथ का छोर मोतियों की लड़ियों से अलंकृत है जो बायें कंधे से दाहिने कमर तक लटका है। पतली कमर में चौड़ी मेखला है, नीचे बांयी ओर तीन लम्बुषक फुदने हैं। कमर में कई प्रकार के मनकों से गढ़ी चौड़ी मेखला है। धोती पहने यह मौर्ययुगीन कला के सुन्दर नमूनों में से एक है।

इस प्रकार प्राप्त सभी मृण मूर्तियाँ मौर्य एवं शुंगकाल के सामाजिक स्वरूप एवं स्त्रियों की सौंदर्य विषयक मनोभावों को चित्रित करती हैं। प्राप्त मृण मूर्तियों के मोहक स्वरूप को अभी भी देखकर दर्शक मंत्र मुग्ध हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। इस प्रकार देखा जाये तो मौर्य शिल्पियों ने उस सामाजिक परंपरा को ही अपनाया जो लोक-व्याप्त थी, उन्होंने प्रकृति को ही अपनी कला का लक्ष्य बनाया।

****

मानव संस्कृति और मैथिलीशरण गुप्त का काव्य

डॉ. उषा कटारा

सच्ची और सार्थक कविता हृदय की अनुभूतिओं का उद्‌गार होती है। वह किसी विचार-धारा का अनुवाद न होकर विचारों और दर्शकों को जन्म देती है। इस प्रकार की कविता के रचयिता ही **''कविर्मनीषी परिभू स्वयम्''** कहलाते हैं। ऐसे कवियों की वाणी मानव मात्र के प्रति प्रेम की धारा बहाती है और सभी जीवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। हिंदी साहित्य के इतिहास का गौरव ऐसे कई कवियों ने बढ़ाया है और विश्व को **मानव प्रेम की संस्कृति प्रदान की है**। कबीर, सूरदास, नानक, मीरा, तुलसीदास, प्रसाद, निराला, सुमित्रानंद पंत, महादेवी वर्मा और मैथिलीशरण गुप्त उनमें प्रमुख हैं।

स्वाधीनता-यज्ञ में वाणी की समिधा देने वाले मैथिलीशरण गुप्त को **राष्ट्रकवि** के सम्मान से विभूषित किया गया है किन्तु विश्व-मानव के प्रति उनके काव्य में जो प्रेमानुभूति अभिव्यक्त हुई है, उसके आधार पर उन्हें विश्वकवियों की श्रेणी में सम्मान देना अनुचित नहीं है। मानव जाति के विभिन्न वर्गों, संप्रदायों, धर्मों आदि की सभी अच्छी बातों का आदर करते हुए काव्य-रचना करते रहे हैं। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, सिख, जैन आदि सभी धर्मों की कथाओं को लेकर उन्होंने काव्य लिखे हैं तथा उन तत्वों को उजागर किया है जो मानव जाति की एकता, समता एवं भाईचारे को बल देते हैं। पारस्परिक संघर्षों की त्रासदियों और विडम्बनाओं के विरुद्ध वे सर्वत्र काव्य-भूमि पर संघर्षरत मिलते हैं। गुप्त जी सच्चे वैष्णव कवि हैं, इसीलिए **''पीर पराई''** को सरस्वती गहराई से जानते और उसके निवारण का मार्ग अपनी अनुभूतियों के माध्यम से खोजते हैं। वे विश्व भर में आत्मभाव भरना चाहते हैं। कहते हैं—

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती
उसी उदार से धरा कृतार्थ-भाव मानती
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति कूजती
उसी उदार को सदा समस्त सृष्टि पूजती है
    अखंड आत्म-भाव जो असीम विश्व में भरे।
    वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।।

Created by Bhartesh Mishra

मनुष्य-प्रेम की अभिव्यक्ति आत्म त्याग, संतोष और बलिदान के मानों से होती है। गुप्त जी की दृष्टि में मनुष्यता का मापदंड मनुष्य मात्र के लिए त्याग और बलिदान करना है। भारतीय संस्कृति की इस माननीय धारा को गुप्त जी ने पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से मानव-प्रेम के महा समुद्र में मिलाया है। वे कुछ उदाहरण देते हुए उक्त भाव को आगे इस प्रकार अभिव्यक्ति देते हैं—

क्षुधार्त रंतिदेव ने दिया करस्थ थाल भी।
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थि-जाल भी।
सहर्ष वीर कर्म ने शरीर नर्म भी दिया।
उशीनर-क्षितीश ने स्व मांस दान भी किया।
यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आप ही करे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

उनकी यशोधरा संसार के कल्याण-हेतु शत बार सहर्ष मरना चाहती है। उसे मुक्ति नहीं, मानव-प्रेम का गीत चाहिए—

आओ प्रिय! भव में भाव-विभाव करें हम।
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम।
कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम।
संसार-हेतु शत बार, सहर्ष मरें हम।
तुम सुनो क्षेम से, प्रेम-गीत में गाऊँ।
कह मुक्ति, भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ॥

गुप्त जी ने अपनी वैष्णव भावना के अनुसार भगवान राम को प्रमुखत: अपनी कविता का विषय बनाया था, किंतु अपने उपास्य को भी वे **मानव** के रूप में ही अपने हृदय में रमाते हैं। कहते हैं—

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए सभी कहीं नहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करें।

उनके ये राम मानव-प्रेम का श्रेष्ठतम प्रतीक बन कर जन-जन का कल्याण करते हैं। वे वन में जाकर मन, वचन और कर्म से मनुष्य मात्र का उद्धार करते हैं। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, सबके प्रति उनके राम के हृदय में प्रेम और समता के भाव हैं। गुप्त भी कहते हैं-

गुह निषाद शबरों तक का मन
रखते हैं प्रभु कानन में।
क्या ही सरल वचन रहते हैं
उनके भोले आनन में।
इन्हें समाज नीच कहता है
पर हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव हैं
किन्तु नहीं वैसी वाणी।

मनुष्यत्व जन में ही निवास करता है। कर्म से कोई छोटा-बड़ा नहीं हो जाता। मनुष्यत्व में जो बड़ा है, वह हीन कैसे हो सकता है? **द्वापर** काव्य में वे कहते हैं-

मनुष्यत्व जन में ही रहता
नहीं विशाल भवन में।
वह भी क्या दुर्लभ है तुमको
जो तुम चाहो मन में।

यह मनुष्यत्व ही मानव मात्र के प्रति प्रेम का सच्चा आधार है, जिस पर गुप्त जी अपने काव्य का संसार रचते हैं। मानव-प्रेम समता और सदाशयता का मार्ग है। इस मार्ग में सदा से राजसत्ता बाधक रही है, लोभ, मद और दंभ का त्रिपुट मानवता का विनाश कर रहा है इसीलिए **साकेत** काव्य में गुप्त जी कहते हैं—

राज-पद ही क्यों न अब हट जाय?
लोभ-मद का मूल की कट जाय।
कर सके कोई न दर्प न दंभ।
सब जगत में हो नया आरंभ।
विगत हों नरपति, रहें नर मात्र।
और जो जिस कार्य के हों पात्र
वे रहें उस पर समान नियुक्त।
सब जियें ज्यों एक हो कुल-मुक्त।

Created by Bhartesh Mishra

इसी भावना के आधार पर गुप्त जी विश्व-राज्य की कल्पना करते हैं, जिसमें मानव मात्र स्वतंत्रता और समता का भागी बन सके। वस्तुतः मैथिलीशरण गुप्त की यही वह भाव-धारा है, जो उनको भारतीय संस्कृति के **वसुधैव कुटुंबकम्** भाव से जोड़ती है। समस्त वसुधा हमारा कुटुम्ब है। इस कुटुम्ब-भाव का आरंभ स्वदेश से ही हो सकता है। घर-बाहर सर्वत्र मानव-प्रेम की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसीलिए राष्ट्रकवि गुप्त जी स्वदेश की ओर विशेष ध्यान देते हुए कहते हैं—

आओ मिलें सब देश-बांधव
हार बन कर देश के।
साधक बने सब प्रेम से
सुख-शान्ति-मय उद्देश के।
क्या साम्प्रदायिक भेद से
है एक्य मिट सकता अहो।
बनती नहीं क्या एक माला
विविध सुमनों से कहो?

अर्थात् सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न हैं, तो क्या हम मानव-प्रेम के आधार पर एक **माला** नहीं बन सकते? गुप्त जी की दृष्टि में मानव-प्रेम ही सबसे बड़ा धर्म है उनके राम इसी धर्म के बल पर भूतल को ही स्वर्ग बनाने के लिए अवतार लेते हैं। गुप्त जी के शब्दों में स्वयं राम कहते हैं—

भव में नव वैभव भरने आया।
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

वस्तुतः सबसे बड़ा सत्य यही है कि अगर मानव-प्रेम के आधार पर समाज और शासन की नीतियाँ चलें, तो पृथ्वी पर ही स्वर्ग की कल्पना साकार हो सकती है।

****

भारतीय संस्कृति की इन्द्रधनुषी उड़ान

डॉ. नारायणदत्त पालीवाल

भारतीय संस्कृति का मूल आधार समन्वय की भावना है। इस समन्वय का दर्शन आचार-विचार, लोक-व्यवहार, मूल्यों, आदर्शों तथा समस्त विश्व के धरातल पर मानवीय संवेदनाओं और संबंधों में लक्षित होता है। किसी भी देश की संस्कृति में उसकी सच्ची आत्मा के दर्शन होते हैं। उस देश के हृदय की धड़कन संस्कृति के माध्यम से अनुभव की जा सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि किसी भी देश की संस्कृति उसकी वैचारिक शक्ति, बौद्धिक चिन्तन और विवेकशील सोच का आईना होती है। भारतीय संस्कृति का आलोक भी सारे विश्व में फैला है। भारत तो इस मामले में भारत और भारतीय के प्रभामंडल में सारे विश्व को समेट कर उसका गुरु होने का श्रेय प्राप्त कर चुका है। यदि हम विश्व की संस्कृतियों का अध्ययन करें तो निश्चय ही हमें उनमें अंतर दिखाई पड़ता है। विदेशों में जहां हम आर्थिक और भौतिक चकाचौंध अधिक देखते हैं वहीं भारत में हमें सादगी और आध्यात्मिक वृत्तियों का प्रकाश दिखाई पड़ता है। संस्कृति का सीधा संबंध संस्कारों से है। संस्कार ही हमारे जीवन में शाश्वत मूल्यों से, आदर्शों से, मानव के हृदय में समाहित सद्वृत्तियों और आत्मा के सच्चे स्वरूप से साक्षात्कार कराते हैं। भारत ने अन्य देशों की भाँति पश्चिमी देशों को भी अपने ज्ञान की गंगा से सींचा है परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान, वैचारिक सामंजस्य एवं बौद्धिक चिंतन के माध्यम से मानव को मानव से जोड़ने और मानवीय संवेदनाओं के संरक्षण के लिए भारत ने एक सेतु का कार्य किया है।

जहाँ तक देश में पूर्व से लेकर पश्चिम तक और उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप का प्रश्न है, हमें विविधता में एकता ने बड़े ही अद्भुत रूप में बुनकर रखा है। हमारे विश्वास अलग हो सकते हैं, धर्म अलग हैं, संप्रदाय हैं, रहन-सहन, खान-पान और प्रथा-परम्परा में थोड़ा बहुत अंतर हो सकती है पर हमारी मूल सोच एक है। अनेकता में एकता का यंह इन्द्रधनुषी रूप हमारे देश के सांस्कृतिक ताने-बाने को संजोये हुए है। अनेक बोलियाँ हैं, भाषायें हैं साहित्य की विधाएँ हैं और मान्यताएँ भी हैं। परन्तु हमारी संस्कृति के धागों की बुनावट ऐसी है कि हम सब भावात्मक रूप से एक सूत्र में बंधे हैं। हमारा मूल स्वर एक है। भारतीय साहित्य, भारतीय संगीत और भारतीय लोक कलाओं के मूल में साम्य की एक सुनहरी रेखा चमकती हुई दिखाई पड़ती है। यह चमक विदेशों तक भी दिखाई पड़ती है। इस देश की यह

Created by Bhartesh Mishra

सांस्कृतिक विरासत विदेशी संस्कृतियों को भी प्रभावित करती है। सदियों से हमारी इस संस्कृति की अमृतमयी धारा अजस्त्र रूप से प्रवाहित हो रही है। इसके पावन वातावरण में हम आचरण की शुद्धता, विचारों की निर्मलता, हृदय की पवित्रता और उदारता की भावना को आत्मसात किए हुए हैं। हमारे संतों, फकीरों, गुरुओं, धर्माचार्यों, शास्त्र-मर्मज्ञों, साहित्याचार्यों और साधकों एवं मनीषियों ने अपनी साधना से, विचारों और आचरण से इस संस्कृति के प्रकाश को विश्व को ज्ञान की संजीवनी प्रदान करती आई है। यही कारण है कि विश्व में फैलाने की दिशा में समर्पित भाव से कार्य किया और इसके मूल में निहित सुगंध से विश्व संस्कृति भी महक उठी ।

भारतीय संस्कृति के विशिष्ट तत्व, उदार एवं सात्विक वृत्तियाँ, विशाल हृदय, उदार जीवन दृष्टि, सौजन्य और समन्वय की भावना ने सदैव सभी विदेशी संस्कृतियों को प्रभावित किया है। सत्य का अनुसरण, त्याग का भाव, अहिंसा की वृत्ति, सभी का कल्याण और मन, वचन एवं कर्म की पावनता का संदेश देकर भारतीय संस्कृति ने सारे विश्व को एक ओर ''सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम्'' का पाठ पढ़ाया है तो दूसरी ओर ''सर्वे भवन्तु सुखिन : सर्वे सन्तु निरामया'' का भी संदेश दिया है । यही दया, करुणा, संवेदना तथा शील का भाव भारतीय मानस की निजी विशेषता है और भारतीय संस्कृति का अपना विशिष्ट स्वरूप है जो विदेशी संस्कृतियों के लिए दिशा संकेत भी है। अपनी सामासिक वृत्ति, उदात्त जीवन दर्शन और जीवन के शाश्वत सत्य पर आधारित भारतीय सभ्यता और संस्कृति सारे विश्व की अनेक संस्कृतियां नष्ट हो चुकी हैं और भारतीय संस्कृति जीवित है। कहा भी गया है—

यूनान मिश्र रोमां सब मिट गए जहाँ से,
बाकी बचा है अब तक नामो निशां हमारा,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा,
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

इस हस्ती की आधार शिला है हमारी संस्कृति जिसे हमारे संस्कार ऊर्जा देते हैं।

सांसारिक वृत्तियों में आकंठ डूबी पश्चिमी संस्कृतियों के मूल में भौतिकवाद है। जीवन के सुख हैं। भोग-विलास तथा सांसारिक आनन्द के, सुख-सुविधाओं के मोह में उलझा जीवन है। वहाँ आसक्ति है, मोह-माया का विलासपूर्ण जीवन है। खाओ, पीओ, मौज करो का सिद्धान्त है। मैं, मेरा और अपना का भाव है। जबकि भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक वृत्तियाँ हैं। सादा जीवन और उच्च विचार का भाव है। साधना है, त्याग और तप है। स्वार्थ नहीं परमार्थ है। मेरे और तेरे का अंतर नहीं है । यहाँ मैं भी तुम बन जाता है। अपने-पराये का भेद मिट जाता है। सारी वृत्तियाँ एक तान, एक लय हो जाती हैं। यही वृत्ति है जो सद चित, आनन्द की राह पर ले जाती है। आज

पश्चिम भारतीय संस्कृति की इसी आभा पर मुग्ध है, उसे भारतीय संस्कृति के इन्हीं इन्द्रधनुषी रंगों ने आकर्षित किया है। तभी तो पश्चिम में आज़ अनेक प्रकार के ऐसे आंदोलन चल रहे हैं जो हमारी सांस्कृतिक अस्मिता से प्रभावित हैं। वे हमारा अनुकरण कर रहे हैं। धर्म और भक्ति के स्वरूप की पहचान की दिशा में वे लोग जीवन के शाश्वत मूल्यों तक पहुंचना चाहते हैं। पश्चिमी देशों को भारतीय संस्कृति में चिन्तन की नई दिशा, जीवन मूल्यों की नई व्याख्या, उच्च आदर्शों तथा नैतिकता की सार्थक परिभाषा, साधना के सच्चे स्वरूप और जीवन तथा जगत के वास्तविक अर्थ एवं लक्ष्य का दिशा संकेत मिला। राजाराम मोहन राय की सुधारवादी वृत्ति, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ. राधाकृष्णन आदि की वाणी ने जो जादू पश्चिमी देशों पर किया उससे सभी परिचित हैं। इन सभी के संदेशों, उपदेशों, प्रवचनों, भाषणों, वाणी और शिक्षा विश्व को नई जीवन-दृष्टि, चिन्तन की नवीन दिशा और सोच के नए आयाम दिए। हमारे वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों, पौराणिक ग्रंथों, गीता, रामायण, महाभारत आदि में समाहित उदात्त जीवन मूल्यों, उदात्त भावनाओं और सदवृत्तियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इनसे मिला ज्ञान का प्रकाश, अहिंसा और शांति का संदेश, भौतिक आसक्ति से मुक्ति तथा आध्यात्मिक वृत्तियों में रुझान। तभी तो भारतीय संस्कृति में अहंकार के लिए स्थान नहीं है, दम्भ का नाम नहीं है। यदि है तो विनय, नम्रता, शालीनता और आचरण की शुद्धता। यहाँ संकीर्णता और स्वार्थ नहीं, हृदय की विशालता, परमार्थ, दृष्टिकोण और उदारता का प्रकाश है। धर्म की व्यापक और सच्ची अवधारणा भारतीय संस्कृति के मूल में निहित है। यहाँ उदात्त जीवन पद्धति और आध्यात्मिक वृत्तियों का समन्वय है । इस संस्कृति का यही चुम्बकीय आकर्षण है जो विदेशियों को अपनी और खींचता है। य़ही विश्व बंधुत्व और ''वसुधैव कुटुम्बकम'' तथा ''एक विश्व एक परिवार '' के सिद्धान्त का मूल स्त्रोत है। विदेशियों को अब समझ में आने लगा है कि जीवन का सच्चा सुख अर्थवाद, भोगवाद या भौतिक ऐश्वर्य में नहीं अलौकिक वृत्तियों में है। यह गौतम, महावीर और गांधी का देश है। तभी शांति, अहिंसा, भाईचारे और मैत्री की बात करता है । वैश्वीकरण, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति तथा संचार माध्यमों की क्रांतिकारी भूमिका के इस युग में विश्व के देश और निकट आ रहे हैं। आर्थिक उदारीकरण का युग भी है। परस्पर आदान-प्रदान, संपर्क, और संवाद में भी वृद्धि हो रही है। ऐसे में भारतीय, चिंतन, भारतीय दर्शन, भारत की वैचारिक ऊर्जा और आध्यात्मिक दृष्टि समस्त मानवता के लिए मानव को जोड़ने के लिए, विश्व शांति के लिए और आत्मिक विकास के लिए विशेष महत्व रखती है। इसकी सहायता से निश्चय ही सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हो सकते हैं। कबीर का ढाई ऑखर प्रेम, तुलसी की मर्यादा, गौतम, गांधी का शांति-अहिंसा का संदेश, पंचशील के सिद्धांत का प्रकाश एक ऐसे वैचारिक और सांस्कृतिक

Created by Bhartesh Mishra

सेतु के लिए आधारभूमि तैयार कर सकते हैं जहाँ विश्व-संस्कृतियाँ एक दूसरे की पोषक और पूरक हो सकती हैं।

हमारा साहित्य, हमारी लोक-कलाएँ, हमारा संगीत, हमारी नृत्य कलाएँ, स्थापत्य, हमारी सांस्कृतिक विरासत का भी योगदान कम नहीं है। सभी संस्कृतियों का सम्मान, विविधता में एकता की सुनहरी रेखा की पहचान तथा सर्वधर्म समभाव भारतीय चिन्तन, भारतीय मनीषा और भारतीय सोच की परम्परागत विशेषता है। यही वह तत्व है जो विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रभामंडल का आलोक फैलाता है।

****

भारतीय संस्कृति का आधार : ब्रज-संस्कृति

डॉ. श्रीमती हर्षनन्दिनी भाटिया

भारत का अन्तरंग व अनुपम हृद प्रदेश ब्रजमंडल ही है। इस प्रदेश का स्वरूप और माहात्म्य महिमामय तथा विशिष्ट है। ब्रज का भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आधार अत्यन्त महत्वपूर्ण है साथ ही धार्मिक-पौराणिक एवं भाषायी आधार भी सुदृढ़ है।

प्राचीनकाल में भारत के जिस मध्यमार्ग को ब्रह्मर्षि देश, मथुरा मंडल या सूरसैन प्रदेश कहा गया है, वही आज का ब्रज है। बौद्धकाल में यह प्रदेश एक विशाल भूभाग के रूप में मज्झिम देश या मध्यदेश कहलाता था। इस विशाल प्रदेश में नौ जनपद थे जिनमें से मत्स्य और सूरसेन जनपद इसके अंतर्गत ही आते थे। मध्यकाल में ही बाद में ब्रज का प्रयोग उस भूमिखंड के लिए किया जाने लगा जिसकी सीमाओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

इत बरहद उत सोनहद, उत सूरसेन कौ जाम।
ब्रज चौरासी कोस में मथुरा मंडल धाम।।

मथुरा के समीपवर्त प्रदेश को ही ब्रजलोक की संज्ञा दी गई। चौरासी कोस की भूमि ही ब्रज कहलाती है जिसका केन्द्र बिन्दु मथुरा-वृन्दावन है।

संस्कृति मानव के अभ्युत्थान की पथप्रदर्शिका है। ब्रज-संस्कृति का संबंध मानवीय संस्कारों और मौलिक-आत्मिक परिष्कारों पर आधारित है। ब्रज संस्कृति इस दिशा में सदैव अग्रणी रही है। ब्रज संस्कृति यद्यपि क्षेत्रविशेष की संस्कृति है तथापि यह संस्कृति अनचार-विचार, धर्म-दर्शन, साहित्य, संगीत, कलाकौशल तथा जीवनदायी उदात्त तत्वों से युक्त होने के कारण संपूर्ण भारत को एकसूत्र में बांधे हुए हैं।

सामान्यतः संस्कृति जीवन का संस्कार है जिसका अर्थ है पाशविक प्रवृत्तियों का परिमार्जन तथा स्वार्थ का परित्याग। जो व्यक्ति अपने लिए ही नहीं, वरन् मानवसमूह के हित तथा राष्ट्र के मंगल में समर्पित रहता है, वही सुसंस्कृत है। ब्रज से अभिप्रेत तत्व भारत का हृदय स्थल रहा है जहाँ सभी सुमंगल भावनाएँ, धर्म-साधनाएँ, भावानात्मक अभिव्यंजनाएँ तथा समस्त बौद्धिक चेतनाएँ मिलकर एकाकार हो गई हैं।

Created by Bhartesh Mishra

ब्रजभूमि का महत्व मात्र बौद्धिक न होकर प्रेरणात्मक, भावानात्मक एवं रचनात्मक है। यह साहित्य और कलाओं की उपयुक्त स्थली है, यही कारण है कि संगीत, नृत्य व अभिनय ब्रज संस्कृति के प्राण हैं। ब्रज-संस्कृति में हृदयतत्व की प्रधानता अधिक है, क्योंकि यहीं तो प्रिया-प्रियतम-राधा और कृष्ण की लीलाएँ हुईं। ब्रज की संस्कृति राधा-कृष्ण की संस्कृति है, उनके रास-विलास, मानाभिमान तथा अपूर्व लीलाओं का वर्णन है। इन सबमें सर्वोपरि है—रासलीला।

इस प्रदेश की भाषा ब्रजभाषा है जिसमें सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, हितहरिवंश, श्रीभट्ट, मीरा, घनानंद, बिहारी आदि सहस्रों कवियों ने काव्य रचना की। यही कारण है कि यहाँ की साहित्यिक परम्परा अति महत्वपूर्ण है। यह परम्परा अन्य साहित्यिक गतिविधियों से जुड़कर ब्रज की गरिमा और महिमा को बढ़ाती है। एक प्रकार से समस्त भारतीय साहित्य में एकता-सेतु का कार्य संपादित करती है। संक्षेप में ब्रज, ब्रज लोक-जीवन, ब्रज कला तथा ब्रज की साहित्यिक परम्परा समवेत रूप में ब्रज-संस्कृति को गौरवमय बनाती है।

देखा जाए तो ब्रज-संस्कृति का विस्तार ही भारतीय संस्कृति है। अपनी विशिष्ट परंपराओं, उत्तम आचार-विचार-आहार विहार-व्यवहार तथा विचारों के कारण यह पथ-प्रदर्शिका बनी। ब्रज संस्कृति में अनेक प्रकार के प्रभाव समय-समय पर बौद्ध काल तथा जैनयुग में बड़े विचारशील हुए। नाग-संस्कृति, शाक्त संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति यहाँ तक मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव पड़ता रहा, जिससे यह सर्वप्रिय बनी रही और समन्वित रूप में प्रस्तुत होती गई। फलतः इसमें आस्था, समर्पण, प्रेम-त्याग आदि भावों में वृद्धि होती गई। संस्कृति के इन उपकरणों में आचार-विचार, रहन-सहन, वेशभूषा, कला-कौशल, मंदिर-देवालय, उत्सव-समारोह, त्यौहार-मेले आदि हैं, जिनसे समृद्ध होती गई। सादा-जीवन और उच्चविचार इन सबके मूल में रहा। ब्रजवासियों का लोक-जीवन सरल-सहज रूप से आस्था और विश्वास के साथ परिचालित होता है। अत्यंत संक्षेप में ब्रज संस्कृति को **गोपाल** का पर्याय भी कहा जा सकता है, क्योंकि कृषि प्रधान क्षेत्र के मूल में तो **गौ** ही है।

ब्रज-संस्कृति में यात्रा का महत्व धार्मिक भी है। प्रकृति-प्रेम की प्रधानता है। वन की लताएँ, कुँज-निकुँज तथा कृष्ण की लीलाओं से संबंधित स्थानों से तादात्म्य बनाए रखना ब्रजयात्रा का प्रमुख उद्देश्य है। इस दृष्टि से परिक्रमा का सांस्कृतिक महत्व है।

ब्रज-संस्कृति में रासलीला, गायन-वादन-नृत्य का समन्वित रूप है। कृष्ण द्वारा रचाई गई लीलाओं का अनुकरण ही रासलीलाएँ हैं जिनका प्रदर्शन आज भी दूर-दूर तक ब्रज की अनेक मंडलियाँ मंचों पर करती हैं।

ब्रज-संस्कृति का अपूर्व प्रभाव हिन्दी साहित्य पर रहा। समस्त कालों में इस संस्कृति की अमिट छाप मिलती है। गत दशक में ही "कृष्ण के मथुरा गमन" तथा "उद्धव द्वारा संदेश का भिजवाना " विषय को लेकर अनेक उत्कृष्ट काव्य रचनाएँ हुई हैं। कृष्णभक्ति के विभिन्न संप्रदायों-वल्लभ, राधावल्लभ, निम्बार्क, गौड़-चैतन्य, सखी-स्वामी हरिदास आदि के अनेक कवियों ने इसकी पताका को ही फहराया है।

साहित्यिक परंपरा से इतर लोकगाथा, लोकगीत, लोककथा, लोक कला आदि लोकसंस्कृति-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में विपुल साहित्य प्राप्त होता है जिनको अब पुस्तकाकार में प्रकाशित कर दिया गया है अन्यथा वह अब तक मात्र मौखिक परंपरा में ही उपलब्ध था। ब्रज के इस सरस स्वरूप को जहाँ एक ओर कलाओं में सुरक्षित रखा गया है वहीं साहित्य में भी।

ब्रज में सांस्कृतिक पुरुत्थान के फलस्वरूप संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला आदि लोक कलाओं में पर्याप्त उन्नति हुई है। लोककलाओं में साझीकला, पाककला, मिट्टी की कला, मेंहदीकला, अंग-अंकन, चित्रांकन, श्रृंगार-प्रसाधन, आभूषण आदि समस्त कलाओं ने इस सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है। ब्रज की नारी ने इन समस्त कलाओं को अति कुशलता से ब्रज को विश्व के मानचित्र पर प्रस्तुत किया है। ब्रज-नारी ने अति कुशलता एवं सुन्दता से इन कलाओं को संवास और सहेजकर जीवित रखने का पूर्ण प्रयास किया है।

ब्रज की सौन्दर्यबोधिनी दिव्य संस्कृति का हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव है। श्रीमद्भागवत के आधार पर सूरसागर के पद, नंददास-परमानंददास आदि अनेक कवियों का पद-साहित्य, संगीत, ब्रजमंडल की परिक्रमा, प्रकृति का वैभव, वन-उपवन, गिरिराज की ललित तलहटी, ब्रजमंडल में फैले हुए पोखर-कूप, सरोवर-कुंड, यमुना के घाट, मंदिरों के भव्य दर्शन-झांकी समवेत प्रभावशाली छाप छोड़ते हैं। कीर्तन के पद संगीतबद्ध हैं, जो ब्रज की अनूठी निधि है, जिनका प्रचार-प्रसार आज घर-घर में है।

ब्रज संस्कृति अपनी अपूर्व गरिमा-महिमा लिए हुए है, यही कारण है कि इसको क्षेत्रीय सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। वह अपनी अनुपम व अतुलनीय विशेषताओं के कारण संपूर्ण भारत में जानी-पहचानी जाती है। इसका वार्षिक-साहित्यिक महत्व ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक, महत्व भी है। आंध्र प्रदेश के आचार्य वल्लभ, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु, सुदूर दक्षिण के रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि अनेक महापुरुष इस ओर आकृष्ट हुए। रास की अद्भुत शैली मणिपुर में विकसित हुई। उड़ीसा के जगन्नाथपुरी मंदिर में बलदेव और सुभद्रा भी हैं जिसके कारण रथयात्रा का महोत्सव धूमधाम से मनाया जाता है। ब्रज संस्कृति अमृत नवनीत है।

पूर्व में उड़ीसा में जहां ब्रजबुलि की रचनाओं की धूम रही, वहीं पश्चिम में गुजरात में द्वारिकापुरी के कारण गुजराती में पर्याप्त कृष्ण भक्ति साहित्य लिखा गया, जिसमें प्रकारान्तर से ब्रज संस्कृति को ही आगे विस्तीर्ण किया।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि ब्रज संस्कृति ही भारतीयों के लिए सर्वस्व है। इस संस्कृति में ही संपूर्ण भारत को देखा जा सकता है तब ही तो इसको **दर्पण** कहा जाता है। ब्रज जिसमें स्वर्गादपि गरीयसी की भावना व्याप्त है, ब्रज का अनुपम और आकर्षक रूप ही इसमें प्रदर्शित होता है। ब्रज संस्कृति समस्त भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि उसके कवियों ने पुन: ब्रज में ही जन्म पाने की अभिलाषा प्रकट की है। कवींद्र रवींद्र तक ने ब्रजभूमि में ग्वाला के रूप में आने की इच्छा प्रकट की थी।

जन्म जन्म दीजियो मोहि या ब्रज कौ बसिबो।
और कुछ नहीं तो ब्रज की लता-पता के रूप में ही रहना चाहता है कवि।

यही कारण है कि रसखान ने अभिलाषा की कि :

मानुष हों तो वहीं रसखान बसों
ब्रज गोकुल लांव के मझारज।
जो पशु हौं तो बसेरौ करौ,
वहीं कालिंदी कूल कदंब की डारन।

भारतीय कसीदा : एक समृद्ध संसार

अनामिका पाठक

''सादे कपड़े पर सुई एवं धागे की मदद से थोड़ा उभार कर लिया गया कसीदा/कढ़ाई, चित्रकारी का ही नमूना है''—एक यूरोपीय विद्वान् द्वारा कही यह बात भारतीय कढ़ाई के विषय में उचित ही प्रतीत होती है। प्राय: कसीदाकारी अथवा कढ़ाई करने की विधा को लोककला के अंतर्गत माना जाता है परंतु, भारतीय कलाकारों की विविधता, कला की पराकाष्ठा को कुछ इस प्रकार छूती है कि इसे सिर्फ लोककला मानना सर्वथा अनुपयुक्त होगा। यह बात उपलब्ध साक्ष्य जैसे कि 19वीं शती के मध्य/उत्तरार्द्ध में बनी कश्मीर के शालों पर 'कश्मीर का नक्शा' या 'सिकंदरानामा' का उकेरण, मुर्शिदाबाद के 'टेन्ट पैनल' और चंबा की 'वाल हैंगिग' से बखूबी साबित होती है। यद्यपि विभिन्न कालक्रम के पुरातत्त्विक, साहित्यिक, चित्र एवं मूर्तिकला के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि कढ़ाई करने का प्रचलन भारत में सिंधु सभ्यता से ही था। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त कढ़ाई करने वाले कलाकारों को विभिन्न राजाओं जैसे कि मुगलों द्वारा स्थापित 'राजसी कारखानों' के अतिरिक्त, अवध राजाओं द्वारा 'चिकनकारी' के, चंबा (हिमाचल प्रदेश) के राजाओं द्वारा ' चंबा रुमाल' को राज्य प्रश्रय दिया जाना, कढ़ाई की कला को लोककला के दायरे से निकाल कर कला का दर्जा दिए जाने की ओर इंगित करता है। भारत के अलग-अलग प्रांतों में प्रचलित दैनिक, अवसरिक, आनुष्ठानिक मौकों पर प्रयुक्त होने वाले वस्त्र एवं वेश-भूषा पर की गई कढ़ाई कलात्मक सुयोजन के संसार में विविधता के अनेक रंग बिखेरती है।

प्रचलित प्रांतीय कढ़ाइयों का विस्तार से जिक्र करने से पूर्व एक नजर इतिहास पर डालना आवश्यक है। सिंधु सभ्यता लगभग 2000-1500 ई. पू. के उत्खनन से प्राप्त तांबे, फेयन्स, सोने की सुइयां (हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, राखीगढ़ी, धौलावीरा और सूती एवं सिल्क के धागों (हड़प्पा, नेवांश) के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिससे ज्ञात होता है कि सिंधु सभ्यता काल में भी लोगों का कढ़ाई के प्रति रुझान था। उस काल में कढ़ाई के प्रचलन की पुष्टि कराती है मोहनजोदड़ों से प्राप्त पुजारी की पत्थर की मूर्ति जिसमें पुजारी को शाल ओढ़े दर्शाया गया है जो कि 'तिपतिया' एवं 'गोलाकार डिजाइनों' से सजी है। इसके बाद के अनेक उदाहरणों में औरंगाबाद की विश्व प्रसिद्ध अजंता गुफाओं का विशेष स्थान है जो लगभग 4-5वीं शती ई. में बनी और उसमें भगवान बुद्ध का जीवन, बौद्धजीवन शैली को प्रदर्शित करते अनेक चित्रों को चित्रित किया गया है। अजंता गुफाओं की दीवारों को सुर्ख, चटक रंगों से सजाते हुए अनेक ऐसे दृश्यों को बनाया गया

Created by Bhartesh Mishra

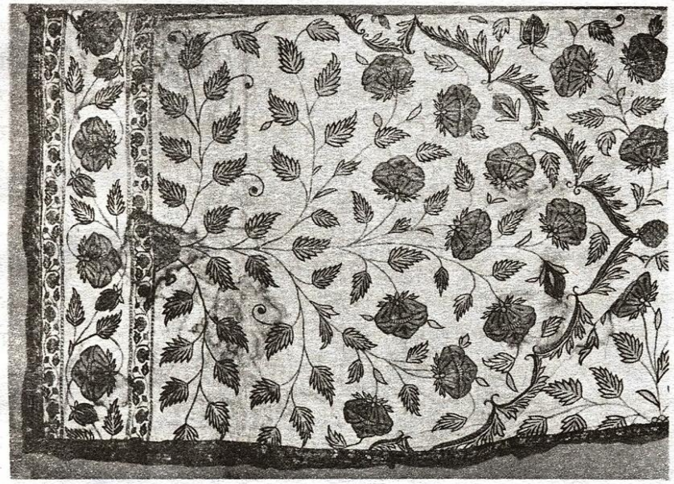

है जिससे तत्कालीन समाज, उसका रहन-सहन, वहाँ प्रचलित वेश-भूषा, फर्नीचर इत्यादि का भी पता चलता है। विभिन्न वस्त्रों पर अनेक प्रकार के नमूनों का अंकन तो मिलता है परंतु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि ये बुनाई/छपाई/कढ़ाई में से किसके उदाहरण है ? वैसे वस्त्र कला की विविधता का आभास तो ये चित्र अवश्य कराते ही हैं। ऐसी ही विविधता बाद के बने चित्रों (पालकालीन पटचित्र, जैन चित्र आदि) और साहित्य (रामायण, महाभारत, बौद्ध, जैन एवं मध्यकालीन अरबी, फारसी और विदेशी यात्रियों के वृत्तांत) के माध्यम से भी देखने को मिलती है। यूं भी भारतीय जलवायु में अति प्राचीन वस्त्रों के नमूनों के न मिलने की संभावना को ही व्यक्त करती है। सबसे प्राचीन उपलब्ध साक्ष्यों का जिक्र करें तो 15-16वीं शती में बने पाण्डुलिपियों के कपड़े के आवरण, जैन साध्वियों द्वारा बने पैनल, फलक के उदाहरण विभिन्न संग्रहालयों में संग्रहित मिलते हैं। भारत के लगभग हर प्रांत में एक ना एक प्रकार की कसीदाकारी का प्रचलन रहा ही है परंतु मुगल राजाओं द्वारा स्थापित कारखानों में निर्मित विभिन्न प्रकार के वस्त्र एवं वेश-भूषा, उत्तर प्रदेश की चिकनकारी, हिमाचल प्रदेश के चंबा रूमाल, काश्मीर के शाल, बंगाल की कथा, गुजरात की मोचीकारी, पंजाब की फुलकारी एवं कर्नाटक की कसूती कुछ उत्कृष्ट कसीदाकारी के नमूने हैं।

16वीं शती में मुगल सम्राट अकबर की देख-रेख में लाहौर (पंजाब), आगरा, फतेहपुर (उत्तर प्रदेश), अहमदाबाद (गुजरात) में राजसी कारखानों की स्थापना हुई जिसका जिक्र मिलता है उस समय की ही एक प्रसिद्ध पुस्तक आईने-ए-अकबरी में। इस पुस्तक से स्वयं राजा द्वारा वस्त्रों में किए गए सुधारों एवं प्रयोगों की चर्चा भी की है और उनके व्यक्तिगत वस्त्रागार, वस्त्र, वेश-भूषा को बनाने एवं रखने के तरीकों तक की भी जानकारी मिलती है। 1663 में बर्नियर द्वारा औरंगजेब कालीन राजसी कारखानों का जिक्र भी किया है। इन कारखानों में राजाओं की वेश-भूषा, दिन-प्रतिदिन अथवा अवसरिक मौकों पर प्रयुक्त होने वाली चीजों के अतिरिक्त राजाओं के टेंट, छत्र, फर्शी, गलीचा जैसी चीजों का भी निर्माण होता था। यह कह पाना तो कुछ कठिन होगा कि किस केन्द्र में क्या बनता था परंतु यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि राजसी पसंद को ध्यान में रखकर राजाओं की आवश्यकता की पूर्ति हेतु ऐसी अनेक चीजों का निर्माण संभवतः अलग-अलग कारखानों में हुआ। इन सभी वस्त्रों पर कसीदे की विषय वस्तु, रंगों का प्रयोग, बारीक एवं सुन्दर कसीदाकारी मुगल राजसी पसंद की छाप छोड़ती है। इस प्रकार की कुछ कलाकृतियां देश-विदेश के संग्रहालय में भी संग्रहित हैं। ऐसी ही एक कनात का सुन्दर उदाहरण संभवतः गुजरात में कढ़ी हुई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्राहलयों में भी संग्रीहित हैं जो कि मुगल

Created by Bhartesh Mishra

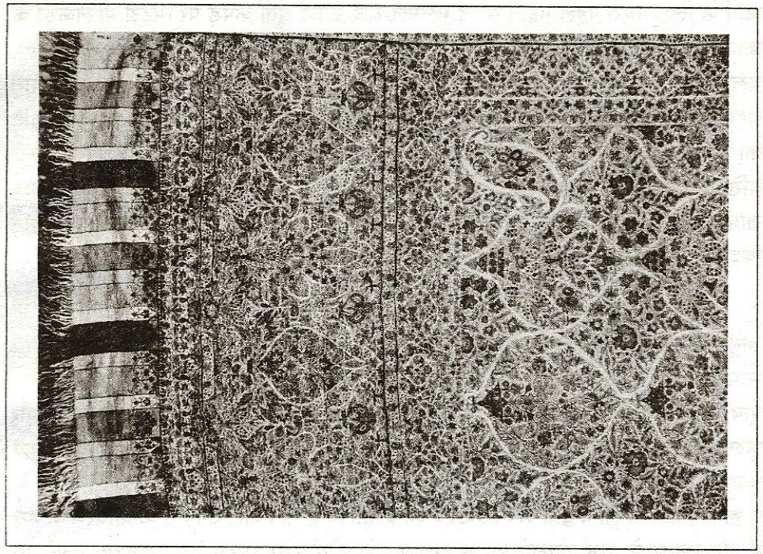

राजसी कारखानों की शैली को ही प्रदर्शित करती है। (चित्र सं. 1) सफेद सूती कनात पर पत्तियों से मेहराब बनाते हुए पूरे पैलन पर मुगल शैली के फूलों एवं पत्तियों का अंकन एक वृक्ष के आकार में किया गया है। सिल्क के लाल, गुलाबी, हरे एवं काली रंगों का प्रयोग करते हुए कलाकारों ने बहुत महीन चेन स्टिच के टांकों की मदद से बहुत ही सुन्दरता से काढ़ा है। अच्छा रेखन कार्य द्वारा शेडिड रंगों का प्रयोग करते हुए 18वीं शती के कलाकारों ने राजसी कारखानों की स्पष्ट छाप इस कनात पर छोड़ी है।

लगभग 18-19वीं शती ई. में सफेद मलमल/सूती कपड़े पर सफेद सूती धागों से ही कढ़ाई करना कसीदे के काम में विशिष्ट महारत की ही निशानी है जिसे अवध के नवाबों का प्रश्रय पाकर लखनऊ के चिकनकारी के कलाकारों ने पाया। यूं तो कलकत्ता, ढाका, गया, बनारस, इलाहाबाद, भोपाल, दिल्ली, रामपुर एवं पेशावर में भी चिकनकारी का काम किया जाता था परंतु इस कला का असली फन दिखाया लखनऊ के ही कलाकारों ने। पूर्वी बंगाल में जन्मी इस कला को परवान चढ़ाया अवध के नवाबों ने जो इस काम के बहुत दीवाने थे और अनेक कारीगरों को उन्होंने प्रश्रय देकर न केवल अपने शौक व इच्छाओं को पूरा किया बल्कि कसीदाकारी की इस महान कला को बुलंदी तक पहुंचने का मौका भी दिया। चिकनकारी के

कार्य के लिए सबसे पहले महीन सफेद मलमल/सादे सफेद सूती कपड़े पर मिट्टी या लकड़ी के ब्लाकों की मदद से मनवांछित डिजाइनों को छाप लिया जाता था। प्राय: डिजाइनों में फूल-पत्ती, बेलबूटों का आंकन ही प्रमुखता से देखने को मिलता है। छपाई के पश्चात् सफेद सूती धागों द्वारा बेहद महीनता और समानता के साथ अनेक प्रकार के टांको द्वारा मनवांछित आकार एवं आकृति का उकेरण किया करते थे। बहुत प्रकार के टांकों में प्राय: कलाकारों ने तेपची, बखिया, उल्टी बखिया, जनजीरा, मुररी, फन्दा और जाली के टांकों का ही प्रयोग करते हुए एक से एक नायाब जामा, चोला, अंगरखा, टोपी, रूमाल इत्यादि भांति-भांति की चीजें बनाई जो कि आज देश-विदेश के संग्रहालयों में संग्रहित चिकनकारी की कला की धरोहर है।

चंबा के राजा उम्मेद सिंह 1748-64 ई. के प्रश्रय में चित्रकारी एवं कसीदाकारों के सामूहिक प्रयास हैं 'चंबा रूमाल' जो कि सफेद मंलमल या सूती कपड़े पर दोहरी साटिन एवं स्टम टांकों की मदद से इस प्रकार किया जाता था कि दोनों तरफ समान उकेरण आता था जिससे प्राय: सीधे-उल्टे का भ्रम हो जाता है। यूं तो नूरपुर, बिलासपुर, बसोली, जम्मू, गुलेर, मंडी और कुल्लू में इसी प्रकार का कसीदा किया जाता परंतु सबसे अधिक आकर्षक, सुन्दर रूमाल बने चंबा में और संभवत: पहली बार भी। चौकोर, आयताकार, गोलाकार सफेद या रंगीन कपड़े के ये रूमाल वहां के लोगों द्वारा अपने ईष्टदेव को प्रस्तुत किए जाने वाले उपहारों के आवरण के रूप में और विवाह के शुभ अवसरों पर वर-वधू पक्ष के लोगों द्वारा उपहारों को आकर्षक बनाने हेतु थालंपोश की तरह इस्तेमाल किए जाते थे। उन रूमालों की विषय-वस्तु शिव, कृष्ण, राम, विवाह प्रसंग, नायक-नायिका भेद-इत्यादि हुआ करती थी। बहुत संख्या में बने इन रूमालों को कलात्मकता की दृष्टि से दो वर्गों में—'लोककला' एवं 'क्लासिकल' में बांटा जा सकता है। सुर्ख, चटक रंगों द्वारा साधारण लाइन वर्क वाले रूमाल लोककला की श्रेणी में आते हैं जिनके विषय में भी विविधता नहीं होती थी जबकि 'क्लासिकल'—की श्रेणी में वे रूमाल आते हैं जिनमें विषय, आकृति, रेखन कार्य, रंगों में चयन में परिपक्वता झलकती है जो निश्चय ही किसी प्रशिक्षित चित्रकार के सधे हाथों का कमाल प्रतीत होता है। ऐसा ही एक रूमाल दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में भी संग्रहित है जिसमें कृष्ण-राधा के अमरप्रेम के अनेक दृश्यों को कसीदाकारों ने बहुत कुशलता से प्रदर्शित किया है (चित्र सं. 2)। सफेद महीन मलमल पर सिल्क के हल्के रंग के धागों से पूरे रूमाल पर चारों ओर से फूल-पत्ती की बेलदार फ्रेम बनाकर और पेड़ों की मदद से चार भागों में बांट कर कृष्ण-राधा के प्रेम के अनेक रूपों जैसे राधा का नाराज होकर मुख फेर लेना, कृष्ण का उन्हें मनाना और अंत में दोनों का एक ही सिंहासन पर बैठना उकेरित किया है। परिचारिकाओं द्वारा पानदान, मिठाई पात्र, चंवर इत्यादि का अंकन बहुत सुन्दर एवं मनमोहक है। प्रसिद्ध कवि जयदेव कृत गीत-गोविंद से प्रेरित प्रसंग का चयन, अच्छा

Created by Bhartesh Mishra

रेखन कार्य, लाल, पीले, हरे, नीले रंगों का संतुलित ढंग से प्रयोग किया जाना निश्चय ही इस चंबा रूमाल को भारतीय कसीदे के उत्कृष्ट उदाहरणों की श्रेणी में ला देता है।

कश्मीर की 'तूश' एवं 'पशम' ऊन से बनी कानीकर (बुनी हुई) अमलीकर (कढ़ी हुई) शालें कला की दृष्टि से बेहतरीन कृति है। लगभग 1840-50 के आसपास अमलीकर/कसीदाकारी का प्रचलन बढ़ा और 'सुजनी', 'बखिया', 'दोरूखा', टांकों से सजी ये शालें बहुतायत में कश्मीर एवं पंजाब के कलाकारों ने बनाई। पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में भी कारीगरों और उनके द्वारा निर्मित चीजों की अपनी एक खास अहमियत थी। इस दौरान उनके दरबार में आये अनेक फ्रांसिसी एवं अंग्रेज यात्रियों ने अपने यात्रा-वृत्तांतों में लंबी शालों, फर्शी इत्यादि से सजे दरबार का जिक्र किया है। कढ़ाई में चूंकि बुनाई जैसा बंधन नहीं होता अत: छोटे-बड़े साईज की शालों के अतिरिक्त फर्शी दस्तर-खान, मेजपोश एवं पलंगपोश पर बहुत खूबसूरती से फूल-पत्ती, पशु-पक्षी, कलका, ओगी जैसे डिजाइनों का उकेरण देखने को मिलता है। कढ़ाई में अधिक रंगों का प्रयोग भी सहज है। ऐसा ही एक सफेद रंग का पश्म का बना शाल राष्ट्रीय संग्रहालय में संग्रहित है जो कि 'दो रूखा तकनीक' (यानि दोनों तरफ से इस प्रकार कढ़ा है कि दोनों तरफ से समान डिजाइन उभरते हैं और सीधा-उल्टा पहचानना कठिन हो जाता है) तकनीक से काढ़ा गया है और मध्य 19वीं शती के नमूनों, डिजाइनों को प्रदर्शित करता है (चित्र सं. 3)। इस पूरे शाल को आंचल किनारे का बार्डर, फ्रिन्ज गेट्स के रूप में बांटा गया है। पूरी जमीन पर ओगी आर्चस का डिजाइन बना है जिसे विभिन्न प्रकार के फूल, पत्ती, गुलदस्ता एवं बेल-बूटे, पक्षी, इत्यादि से सजाया एवं संवारा गया है।

उत्तर प्रदेश की कथरी, बिहार की सुजनी और बंगाल का कंथा लगभग मिलता-जुलता है परंतु बंगाल के कंथा के समान प्रसिद्धि अन्य किसी को भी नहीं मिली। कंथा का इतिहास कितना पुराना है ठीक प्रकार से कह पाना कठिन है पर बंगाल में लगभग 18-19वीं शती से प्रचलन में था और संभवत: कुछ कंथा निर्यात भी किए जाते रहे हैं जो आज देश के बाहर अनेक देशों के संग्रहालयों में संग्रहित हैं। ज्यादातर महिलाओं द्वारा रनिंग, डार्न, सॉटिन टांकों का प्रयोग करते हुए पुरानी सफेद धोती पर पुरानी साड़ी बार्डर में से ही रंगीन धागों द्वारा कढ़ाई की जाती थी जिसका कि बंगाल के लोक जीवन में अपना विशिष्ट स्थान है। बिछावन, फर्शी, बक्स और शीशे के कवर के रूप में प्रयोग होने वाले ये कंथा आयताकार अथवा चौकोर होते थे। पुरानी अनुपयोगी धोती को आवश्यकतानुसार तह लगाते हुए छोटा और मोटा कर लिया जाता है जिसे मजबूती प्रदान करने के लिए छोटे-छोटे रनिंग स्टिच से क्विलिंटग कर ली जाती थी। कभी-कभी क्विलिंटग बहुत खूबसूरत एवं डिजाइनदार ढंग से की जाती रही है। इसके पश्चात् पुरानी साड़ी बार्डर में से रंगीन सूती धागे निकाल कर मुक्त हस्त से डिजाइन बनाये जाते थे जो कि बहुत समृद्ध एवं विविधता

पूर्ण होते हैं। प्रचलित परंपरा के अनुसार कंथा के बीच में बहुत बड़ा सा अल्पना का डिजाइन और चारों ओर बार्डर बेल बनाते हुए उसके चारों ओर कोनों में कलका बूटा और पौधों को, पशु पक्षियों, रथ और दैनिक प्रयोग की जाने वाली चीजों को बनाया करते थे। रिसाइकलिंग का इससे ज्यादा आकर्षक उदाहरण शायद ही कहीं देखने को मिलता है।

गुजरात के विभिन्न क्षेत्रों में चूंकि अलग-अलग जगह से आए हुए लोग बसे हैं जिनकी जीवन-शैली वहां के मूल निवासियों पर भी प्रभाव डालती है। अत: वहां के लोगों द्वारा दिन-प्रतिदिन उपयोग में आने वाले वस्त्र, अवसरिक मौकों पर प्रयुक्त होने वाली वेश-भूषा को चेन, इंटर लेसिंग, सिंधी, बठन होल, साटिन टांकों द्वारा काढ़ा गया। सूती, साटिन सिल्क के बने ये वस्त्र एवं वेश-भूषा में रंगों के चयन से लेकर डिजाइन ज्यादातर फूल पत्ती, मोर तोता, पक्षी इत्यादि बनाने तक एक सुन्दर संतुलन देखने को मिलता है। लहंगा, चोली, ओढ़नी, जामा, टोपी के अतिरिक्त गलीचा, वॉल हैंगिग, टैंट, कुशन कवर, चाकला, पिच्छवई भी बहुतायत में बनी जो आज जगह-जगह संग्रहालय में देखने को मिलती है।

पंजाब की 'फुलकारी' का शाब्दिक अर्थ है 'फूलों का काम' अर्थात् खद्दर के 'दुशाले' पर इस प्रकार का कसीदा करना कि दूर से फूलों का बाग प्रतीत होता है। बाग, चोब, सांझी एवं दर्शनद्वार फुलकारी के ही प्रकार हैं। यह कला भी विशेषकर महिलाओं द्वारा की जाती है जिसके लिए ज्यादातर स्वयं ही कपड़े (गाढा लाल/नीला/सफेद) को करघे पर बुनकर पीले रंग के मोटे लोमक सिल्क के धागे से डार्न स्टिच द्वारा काढ़ा जाता था। पीले के अतिरिक्त सफेद, हरा और कालांतर में गुलाबी, बैंगनी जैसे रंगों का भी प्रयोग कलाकारों ने किया। फुलकारी की कढ़ाई अपने आप में कुछ अलग प्रकार की है जिसके स्टिच को पीछे की ओर से गिनकर समान दूरी पर और आगे की ओर से लंबा स्टिच लेते हुए इस प्रकार किया जाता है कि सामने का भाग बहुत चिकना एवं सुन्दर प्रदर्शित होता है जोकि वेलवेट का प्रभाव देता है। ज्यामितीय ढंग से उकेरित फूलों की रचनाख, फुलकारी का विशेष आकर्षक है यद्यपि टेढ़ी-मेढ़ी, सीधी लाइनों, फूलों, द्वारा भी अलंकृत फुलकारी बनाई जाती थी। पंजाब की परंपरा के अनुसार हर घर की लड़की के विवाह के अवसर पर उसकी दादी या मां स्वयं अपने हाथों से कसीदा कर उसे उपहार में देती है। इन दुशालों के अतिरिक्त लंहगे, ओढ़नी, कमीज इत्यादि पर भी इस प्रकार की कढ़ाई की जाती है।

कर्नाटक, महाराष्ट्र एवं मैसूर में प्रचलित 'कसूती' की कढ़ाई को यदि उत्तर भारत में प्रचलित शब्द 'कसीदा' का ही एक रूप माने तो अन्यथा न होगा। कसूती की कढ़ाई की प्राचीनता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन होगा परंतु कसूती की कढ़ाई पर चालुक्य, विजयनगर के राजाओं से प्रभावित मंदिरों एवं राजसी जीवन की छाप देखने को मिलती है। प्राय:

Created by Bhartesh Mishra

महिलाओं एवं लड़कियों द्वारा साड़ी के आंचल या बार्डर पर, चोली, टोपी और दिन प्रतिदिन के प्रयोग में आने वाली वस्तुओं पर दोहरी, रनिंग मुरगई (जिससे टेढ़ा-मेढ़ा टांका लिया है) नेगी (साधारण रनिंग) और मैथी (क्रॉस स्टिच) द्वारा की जाती है जो कि पंजाब में प्रचलित चौब की याद दिलाती है। मंदिर, ज्यामितिय, फूल-पत्ती, पशु-पक्षियों का अंकन प्राय: देखने को मिलता है जो कि आस-पास की चीजों से प्रभावित हो सुन्दर उकेरण की कला को प्रदर्शित करता है।

इन अत्यधिक प्रचलित स्वरूपों के अतिरिक्त भी भारत देश के अनेक प्रांतों ने भी कसीदाकारी की अन्य शैलियों से अनेक आकर्षक चीजें बनीं जैसे कश्मीर के गब्बा, और नबदे, हिमाचल की फर्शी पर की जाने वाली कढ़ाई, उड़ीसा, कर्नाटक एवं बिहार का एप्लीक, गुजरात, मणिपुर, मध्य प्रदेश इत्यादि में प्रचलित मनकों पर कार्य, जनजातीन और धार्मिक प्रकार की कढ़ाई और जरी के तारों से की गई कढ़ाई आदि। इस प्रकार इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय कसीदाकारी का इतिहास बहुत संपन्न था और वर्तमान एवं भविष्य भी निसंदेह सुन्दर ही होगा।

****

'संस्कृति' पत्रिका के अंक तीन में प्रकाशित होने वाले लेखों के लेखकों के पते

क्रम सं.	लेख का शीर्षक	लेखक का नाम, पता व फोन नं.
1	2	3
1.	थाईलैण्ड-भारतीय संस्कृति जहां आज भी जीवित है (अंतिम भाग)	श्री हिमांशु जोशी 7-सी-2 हिन्दुस्तान टाईम्स् अपार्टमेंट्स मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091 फोन-2752330
2.	पर्यटन और भारतीय साहित्य	डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर 26/2035/टयूटर लेन त्रिवेंद्रम 695001
3.	सतना जिले का गौरव भरहुत	श्री राम लोचन सोनी भरहुत सतना मध्य प्रदेश
4.	रेतीले आंचल में कला का रोमांस	श्री मीमांसक भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार जनपथ नई दिल्ली
5.	वैदिक काल की सरस्वती नदी, जो लुप्त हो गई	डॉ परमानन्द पांचाल 232ए, पाकेट-1, मयूर विहार फेज-1 दिल्ली-111009 फोन-2751649
6.	उड़िया लोक साहित्य	डॉ गरिमा श्रीवास्तव प्रवक्ता, हिन्दी भवन विश्वभारती शान्ति निकेतन पश्चिमी बंगाल-731235 फोन-03463-53122

Created by Bhartesh Mishra

1	2	3
7.	केरल के दारुशिल्प: भारतीय संस्कृति के संवाहक	डा. एन. चन्द्रशेखर नायर श्री निकेतन, लक्ष्मी नगर पट्टम पाल पोस्ट तिरुअनन्तपुरम-695004 फोन-541355
8.	राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता और राम-भक्ति का विकास	डॉ. रामगोपाल शर्मा ''दिनेश'' सी-25, मानस अपार्टमेंट मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091 फोन-2718019
9.	मौर्य-लोककला: एक मूल्यांकन	श्रीकान्त भगत संग्रहालय अध्यक्ष भागलपुर
10.	मानव संस्कृति और मैथिलीशरण गुप्त का काव्य	डॉ. ऊषा कटारा हिन्दी विभाग मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, 39 युपुर राजस्थान-313003
11.	भारतीय संस्कृति की इन्द्रधनुषी उड़ान	डॉ. नारायणदत्त पालीवाल एच.-19/60, सेक्टर-7, रोहिणी दिल्ली-110085
12.	भारतीय संस्कृति का आधार ब्रज-संस्कृति	डॉ. श्रीमती हर्षनन्दिनी भाटिया नंदन भारती नगर, मेरिस रोड अलीगढ़-2001 फोन-057140672
13.	भारतीय कसीदा : एक समृद्ध संसार	सुश्री अनामिका पाठक राष्ट्रीय संग्रहालय जनपथ, नई दिल्ली-1110001

MGIPRRND—1226 Culture/2002—500

हाल ही प्राप्त कुषाण राजा वासुदेव का सोने का सिक्का, प्रथम शती ई. सन्.

Created by Bhartesh Mishra

यक्ष, सातवाहन, 2वीं शती ई.पू. पीतलखोरा, महाराष्ट्र—राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, मायापुरी, नई दिल्ली-110064 द्वारा मुद्रित
2002

Created by Bhartesh Mishra